5-3

ब्रह्मविनयः

लेखक

विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा

राजपण्डित, जयपुर

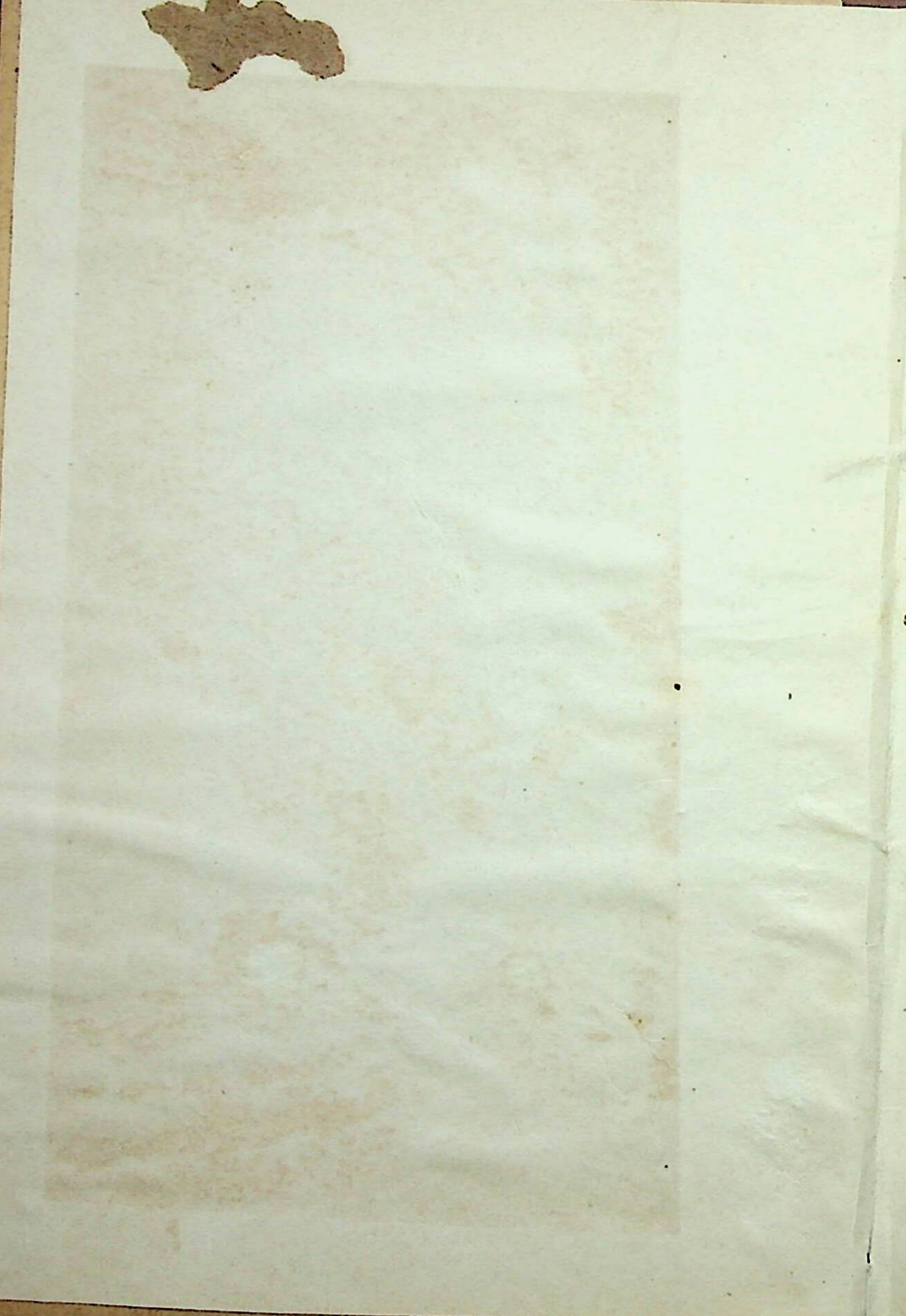
सम्पादक और भूमिका लेखक

वासुदेवशरण अग्रवाल

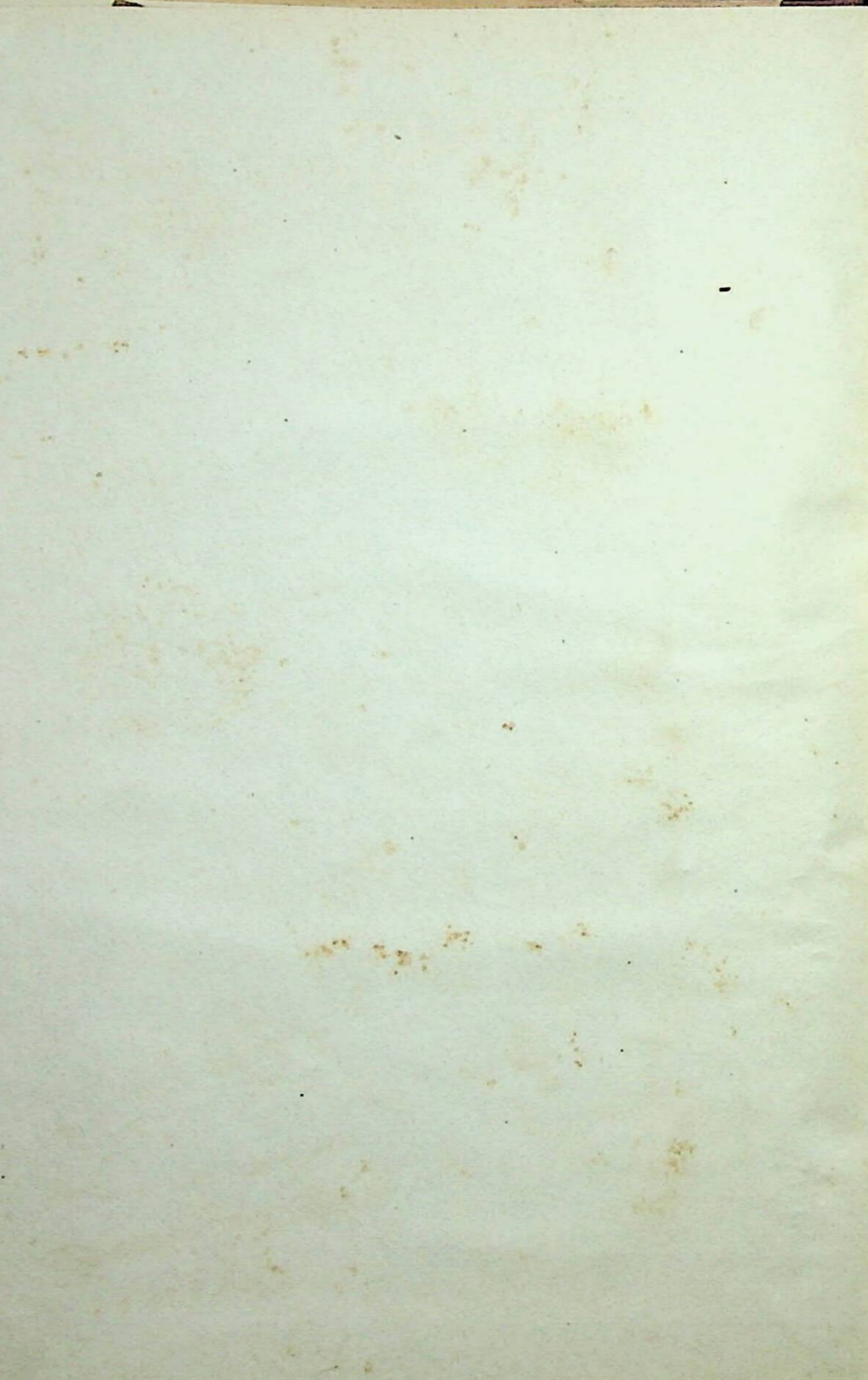
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक

पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी-६



5.3 2



ब्रह्मविनयः

लेखक

विद्यावाचस्पति श्री पं० मधुसूदन ओझा

संपादक

वासुदेव शरण अग्रवाल,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक

पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी-५

प्रकाशक
पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी–५



प्रथम संस्करण १९६४
मूल्य [illegible]

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

ब्रह्मविनय :

विषय-सूची

इति ब्रह्मविनयस्य विषयाणां सूची समाप्ता ।

शुद्धि-पत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ
२	२	प्रसादो	प्रमादो
६	४	द्वितीये	द्वितये
१४	७	'सत्यामृते' अंशास्यास्य टिप्पणिरियम् – सत्यमभ्वं नामरूप-कर्माणि । अमृतं प्राणबलम् । तयोरस्तित्वंरसयोगः । नाम-रूपादि सत्यच्छन्नोऽमृतप्राणो विशिष्टरूपमस्ति । सत्यामृतयोः रसस्थमेवास्तित्वम् ।	
१६	५	हीपते	हीयते
२०	१०	स्वमहिग्नि	स्वमहिम्नि
२२	५	उष्णीय	उष्णीष
२५	१७	मयम्स	मयस्य
२७	७	दृष्टं	द्रष्टुं
२७	७	प्रभवेन्म····कुले	प्रभवे ममात्मानन्दः पराग्भोग्यकुले
११	८	प्रत्यग्-नुपयाति	प्रत्यगममान्मन्युपयाति
३०	२६	एषः मैतदात्म्यं	एष चाणिमैतदात्म्यं
४७	१०	स्याश्रयना	स्याचयना
५१	१६	सिद्ध्यत	सिद्ध्यत्य
६५	५	क्रमतस्तात्	क्रमतस्तत्
७१	१५	त्तदुक्था तदिच्छा	तदुक्थात्पुनस्तदिच्छा
७२	२३	भिन्नविधारह	भिन्नविधाइह
७३	२५	समुत्तिष्ठन्त्य तदय	समुत्तिष्ठन्त्यशित्यै तदयं
८३	३	व्यक्तिमपीह	अन्यत् किमपीह
८४	५	निष्कम्भो	त्रिष्कम्भो
८४	११	त्वायामपमस्ति	त्वापोमयमस्ति
८६	४	तद्······	तद् यावदग्निः क्रमतेतदग्निः
८६	१४	व्यवत्यात्मनोयाजुपतोस्ति	व्यक्त्यत्मनोयाजुपतोऽस्ति
८६	२६	प्रजापतीम्प्रादपि	प्रजापतीन्द्रादपि

९६	२५	यजुपस्तदूर्ध्यं	यजुषस्तदूर्ध्वं
६२	१२	यूस्तास्तासु	पुरस्तास्तासु
६२	१७	स्त्रोतसि	स्रोतसि
९२	२४	कृशतनुर्मित्थव्यशीयङ्गुल	कृशतनुर्मित्यान्यशील्यङ्गुलः
९७	१	पृष्ठांशकाम्यं	पृष्ठांशसाम्यं
६८	२४	आवेष्टनं	आवेष्टयनं
१०२	२	अताल्व	उताल्प
१०२	१५	बलात्यन्तानि	बलान्यनन्तानि
१०७	२२	भुत्का	भुक्त्वा
१०८	२	नानारसार्थं	नानारसानर्थं
१०६	११	तत्वामन्तः	तन्वामन्तः
१११	८	एषोऽव्यो···	एषोऽव्ययो
११८	२१	खमेभि···	रं कं खमेभिस्त्रिभिरक्षरैस्तु
११६	२५	वेदीन्मती	वेदीन्महती विनष्टिः
१२०	९	ब्रह्मस्तु	ब्रूमस्तु
१२०	२१	चेद्धसतः	चेद्ध्रसतः
१२८	५	सावता	यावता
१३९	१४	तन्महत्तदुक्थ	तन्महदुक्थ
१३६	१९	ऋचौ	ऋचो
१४०	८	प्रत्यर्थभेदादिको	प्रत्यर्थभेदादिदमो
१४०	२३	दिशोदिशः	द्विशोद्विशः
१४१	१२	यदिक्षरायां	यदि च क्षरायां
१४६	१८	विद्यामानेपु	विद्यमानेषु
१५१	६	एकैकमव्यमेवाभि	एकैकमव्ययमेवाभिपश्यन्

■

ब्रह्मविनय

विद्यावाचस्पति श्री पं० मधुसूदन ओझा वेदों के विलक्षण विद्वान् हुए हैं। उन्होंने अपने जीवन के लगभग ५० वर्ष लगाकर वेद-विद्या के सम्बन्ध में लगभग १०० ग्रन्थ लिखे और अनेक प्राचीन अर्थों का पुनरुद्धार किया। वे ग्रन्थ ब्रह्म-विज्ञान, यज्ञविज्ञान, पुराणसमीक्षा और वेदाङ्गसमीक्षा इन चार वर्गों में विभक्त हैं। ब्रह्मविज्ञान के अन्तर्गत निम्नलिखित साहित्य का समावेश है—

१. दिव्यविभूति—

(१) जगद्गुरुवैभवम्; (२) महर्षिकुलवैभवम्; (३) स्वर्गसंदेशः; (४) इन्द्रविजयः; (५) दशवादरहस्यम्।

२. उक्थवैराजिक—

(१) सदसद्वादः (२) रजोवादः (३) व्योमवादः (४) अपरवादः (५) आवरणवादः (६) अम्भोवादः (७) अमृतमृत्युवादः (८) अहोरात्र-वादः (९) दैववादः (१०) संशयतदुच्छेदवादः।

३. आर्यहृदय सर्वस्वग्रन्थ—

(१) ब्रह्महृदयम् (२) ब्राह्मणहृदयम् (३) उपनिषद्हृदयम् (४) गीताहृदयम् (गीताविज्ञानभाष्य, प्रथम; रहस्य काण्ड, द्वितीय; मूलकाण्ड) (५) ब्रह्मसूत्रहृदयम् (प्रथम भाग, द्वितीय भाग)।

४. निगमबोधग्रन्थ—

(१) निगदवती (२) गाथावती (३) आख्यानवती (४) निरुक्तिमती (५) पथ्यास्वस्तिर्वेदमातृका।

यज्ञविज्ञानके अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—

१. निवित्-कलाप—

(१) वैश्वरूप-निवित् (२) ऋषि-निवित् (३) देवता-निवित् (४) आत्म-निवित् (५) यज्ञ-निवित्।

२. यज्ञमधुसूदन—

(१) यज्ञविहाराध्याय (२) स्मार्तकुण्डसमीक्षाध्याय (३) यज्ञोप-करणाध्याय (४) मन्त्रप्रचरणाध्याय (५) आत्माध्याय (६) देवताध्याय (७) यज्ञविटपाध्याय (८) क्रमानुक्रमणिकाध्याय।

३. यज्ञविनय पद्धति—

(१) यज्ञकौमुदी (२) चयनाख्याय ।

४. प्रयोग पारिजात—

(१) आधान-प्रक्रिया (२) प्राक् सौमिक-प्रक्रिया (३) एकाह-प्रक्रिया (४) अहीन-प्रक्रिया (५) सत्र-प्रक्रिया ।

पुराणसमीक्षा के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—

१. विश्वविकास ग्रन्थ—

(१) मन्वन्तर-निर्धार (२) विश्वसृष्टि संदर्भ (३) आर्य-भुवनकोश (४) ज्योतिश्चक्रसंस्थान (५) वैज्ञानिकोपाख्यान (६) वंशमातृका ।

२. देवयुगाभास ग्रन्थ—

(१) देवासुरख्याति (२) राघवख्याति (३) यादवख्याति (४) हैहय-ख्याति (५) पौरवख्याति (अत्रिख्याति) (६) अक्रमख्याति ।

३. प्रसंगचर्चित ग्रन्थ—

(१) कथानक-समुच्चय (२) दैवतमीमांसा (३) वेदपुराणादिशास्त्रा-वतार (४) कल्पशुद्धि-प्रसंग (५) परीक्षा-प्रसंग (६) पुराण-परिशिष्ट ।

वेदाङ्गसमीक्षा के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थ आते हैं—

१. वाक्पदिका—

(१) वर्ण समीक्षा (२) छन्दः समीक्षा (३) वैदिककोश (४) वैदिक-शब्द-तालिका (५) व्याकरण-विनोद ।

२. ज्योतिश्चक्रधर—

(१) ताराविज्ञान (२) गोलविज्ञान (३) होराविज्ञान (४) काद-म्बिनी-सौदामिनी व्याख्या सहित (५) लक्षणविज्ञान ।

३. आत्म संस्कार कल्प—

(१) शुद्धिविज्ञान पंजिका (आशौच पंजिका) (२) धर्मविज्ञान पंजिका (३) व्रतपंजिका (४) व्यवहार व्यवस्थापिका (५) श्राद्धपरिष्कार ।

४. परिशिष्टानुग्रह—

(१) शास्त्र परिचय (२) वेदार्थभ्रम-निवारण (३) वेदधर्म व्याख्यान-पंजिका (४) प्रत्यन्त प्रस्थान-मीमांसा (५) गोत्रप्रवरपताका (६) जाति-

पंजिका (७) सम्प्रदाय-पंजिका (८) इन्द्रध्वजोत्थापन-पद्धति (९) धर्मतत्त्व-समीक्षा ।

इन चार विभागों में ब्रह्मविज्ञान को वेदार्थ का हृदय कहना चाहिए। इसमें "उक्थ वैराज" शीर्षक के अन्तर्गत नासदीय-सूक्त के दश वादों का विवेचन है, जिनके नाम ऊपर दिये हैं। इनके अतिरिक्त एक वाद ब्रह्मसिद्धान्त हैं, जिसमें और सबका समन्वय है। वेद के अनुसार ब्रह्म ही सृष्टि का उपादान, निमित्त और आलम्बन कारण है। इसी सिद्धान्त में और सब सिद्धान्तों का पर्यवसान है। यह "ब्रह्मसिद्धान्त" ग्रन्थ मूल और पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की टीका के साथ "नेपाल राज्य संस्कृत ग्रन्थमाला" में मुद्रित और प्रकाशित हो चुका है।

ब्रह्मविज्ञानके के ही अन्तर्गत "विज्ञान मधुसूदन" नामक एक उपविभाग है। ब्रह्म-विनय, ब्रह्मसमन्वय, ब्रह्मप्राजापत्य, ब्रह्मोपपत्ति और ब्रह्मचतुस्पदी ये पाँच ग्रन्थ इसमें हैं। इनमें से ब्रह्मसमन्वय और ब्रह्मचतुस्पदी केवल ये दो ग्रन्थ पण्डित मधु-सूदन जी के सुपुत्र पं० प्रद्युम्न (विद्याधर का रास्ता-जयपुर) ने मुद्रित कराया है। इसी उपविभागका यह तीसरा ब्रह्मविनय नामक ग्रन्थ लाला द्वारका प्रसाद तिलखुआवाले की प्रदत्त आर्थिक सहायता से छपकर प्रकाशित हो रहा है।

महामहोपाध्य पं० मधुसूदनजी सचमुच वेदविद्या के समुद्र थे। उन्होंने वेदार्थ के समुद्धार में ब्राह्मण ग्रन्थों पर अधिक लक्ष्य किया। उनका मूल सिद्धान्त जिसका आधार वैदिक था, चतुष्पाद् ब्रह्म की सत्ता पर निर्भर है। उन चार क्रमों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) परात्पर (२) अव्यय (३) अक्षर और (४) क्षर। दार्शनिक दृष्टि से परात्पर से भी और ऊपर ब्रह्म-तत्त्व का एक पाँचवाँ पक्ष निर्विशेष ही माना जाता है। इस ब्रह्मविनय ग्रन्थ में ओझाजी ने इन्हीं पाँचों की विस्तृत व्याख्या लिखी थी। किन्तु इनके पीछे उनके नोधपत्रों में (कागज-पत्रों में) जो सामग्री मिलो उसमें (१) निर्विशेष (२) परात्पर (३) अव्यय (४) अक्षर इन्हीं का निरूपण पाया गया। पहले पद्यमय विवेचन के बाद अन्त में गद्यात्मक विवेचन भी दिया गया है। पर इन दोनों में ही शतपथ का निरूपण नहीं है। अनुमान होता है कि ओझाजी उसे लिखना चाहते थे किन्तु लिख नहीं सके।

(१) निर्विशेष—

इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम निर्विशेष ब्रह्म का निरूपण है। उसमें ४३९ श्लोक हैं। उस प्रकरण की संज्ञा निर्विशेषानुवाक है। इसमें कहा गया है कि जो निर्विशेष ब्रह्म है वही परात्पर रूप में विश्व-रचना के लिए उपसृष्ट होता है।

ग्रन्थकर्त्ता ने आरम्भ में प्रतिज्ञावाक्य के रूप में कुछ श्लोक लिखे हैं। उनका यह कहना यथार्थ है कि पूर्व युग में वैदिक विज्ञान का विशाल विचार-वन था। उसके अनेक ग्रन्थ अब लुप्त हो गये हैं। अनेक मनीषि और देवर्षियों ने उसके निर्माण में भाग लिया था। उसकी वहुत-सी शाखाएँ-प्रशाखाएँ थीं। उनमें से जो कुछ वचा है उस पर नई उक्तियों से विचार करते हुए ग्रन्थकर्त्ता ने ब्रह्म-विज्ञान विषयक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने अगाध वेदसमुद्र में डुवकी लगाकर कुछ प्राप्त किये हैं। इस ब्रह्मविज्ञान शास्त्र में सव श्रुतियाँ प्रमाणभूत हैं और मानवीय वुद्धिवल के युक्तियों से भी काम लिया गया है। इन ग्रन्थों में कुछ विज्ञान-विन्दु ही हाथ आये हैं, ऐसा समझना चाहिए। वेद के सम्वन्ध में चार प्रकार का साहित्य ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है—(१) विज्ञान (२) यज्ञ (३) इतिवृत्त या इति-हास और (४) स्तुति। वेदोक्त वादों के समन्वय का यह सफल प्रयत्न है। इसमें जो साधु है वह ऋषियों का प्रसाद है।

इस विश्व में जो दिखाई पड़ता है यह क्या है, कहाँ से आया है, इसका प्रमाण क्या है और कारण क्या है? इस प्रकार की जिज्ञासा के अन्तर्गत वहुत से मतभेद हो जाते हैं। सृष्टिमूल की जिज्ञासा के विषय में साध्य देवों में भी कई प्रकार के विचार हुए। उन वादों को यों समझना चाहिए—

(१) सदसद्वाद (२) अमृतमृत्युवाद (३) अहोरात्रवाद (४) आवरणवाद (५) अम्भोवाद (६) रजोवाद (७) व्योमवाद (८) दैववाद (९) संशयवाद (१०) ब्रह्मवाद।

परमेष्ठी ब्रह्मा प्रजापति ने उन वादों का पर्यालोचन करते हुए अन्त में ब्रह्मवाद को ही स्थापित किया। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में इन वादों का उल्लेख है। नासदीयसूक्त में केवल ७ ही मन्त्र हैं पर वे गूढ़ हैं। सृष्टि-विद्या का ऐसा गम्भीर विवेचन ऋग्वेद में नहीं हुआ। इसका सार यह है—न पूर्व में सत् था न असत्, न रज था न व्योम। किसने किसका आवरण कर रखा था? कौन किसका शर्म या रक्षक था? गहन गम्भीर, तमस् या जल क्या था? न उस समय मृत्यु थी, न अमृत। न रात्रि और दिन का पृथक् भेद था। केवल एक मूल तत्त्व अपनी शक्ति से विना शत्रु के, प्राणन क्रिया कर रहा था। उससे परे कुछ नहीं था। आरम्भ में केवल तम तम से आच्छादित था। यह विश्व जल के भीतर अज्ञात रूप में छिपा था। आभू या चारों ओर व्याप्त ब्रह्म तत्त्व को तुच्छ या किसी सीमित घेरा डालने वाले शूद्र तत्त्व ने ढक लिया। तप की निजी शक्ति से एक का जन्म हुआ। वह एक मन था जिसका वीर्य काम के रूप में

उत्पन्न हुआ। इन्होंने अपने हृदय की शक्ति से यह पहचाना कि इस सत् जगत् का बन्धु या कारण कोई असत् या अव्यक्त एक रश्मि कहीं तिरछे मार्ग से आकर यहाँ फैल गई है। कोई उसे नीचेसे आया हुआ कहते हैं, कोई उसे ऊपर से। यह निश्चय है कि विश्व रचना में कुछ देवता रेत का आधान करनेवाले थे और कुछ महिमा का विस्तार करने वाले थे। विश्वके अवस्तात् या या नीचे भाग में स्वधा या भूतशक्ति थी और ऊपर के भाग में प्रयति (प्राण) शक्ति थी। किसने उसे जाना और कौन कह सका ? यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई ? देवता भी इसके विषय में नहीं जानते, क्योंकि वे बाद में आये। जहाँ से यह विश्व हुआ उसे किसने जाना ? इस सृष्टि को कोई धारण करता है या नहीं ? इन प्रश्नों का उत्तर परम व्योम में जो इसका अध्यक्ष है जानता है या नहीं जानता, हम नहीं कह सकते।

अन्यत्र ऋग्वेद में कहा है वन कौन सा था, वृक्ष कौनसा था, जहाँ से द्यावा-पृथ्वी का तक्षण किया गया ? हे मनीषि-विद्वद्गण, अपने मन की शक्ति से इसका उत्तर ढूँढ़ो कि इन भुवनों का अधिष्ठाता कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर तैत्तिरीय ब्रा० के एक मन्त्र में इस प्रकार है–ब्रह्म ही वन था, ब्रह्म ही वह वृक्ष था, जहाँ से द्युलोक और पृथ्वीको कीलकर बनाया गया था। मन की शक्ति से निश्चय करके कहता हूँ कि ब्रह्म ही भुवनों का अधिष्ठाता है। इस प्रकार सृष्टि विषयक प्रश्न वेद में आये हैं। दीर्घतमस् ऋषि ने भी स्पष्ट कहा है कि यद्यपि मन में अहंकार भरकर मैं घूम रहा हूँ पर मुझे यह नहीं ज्ञात है कि यह विश्व कहाँ से और कैसे हुआ है ? जिस वाक् की शक्ति से यह विश्व बना है उसी का एक अंश मेरे भीतर भी आ गया है। ऋत् के इसी प्रथम अंश का मैं भोग कर रहा हूँ। मैं सचमुच इस तथ्य को नहीं समझता। जो जानते हैं, उनसे आग्रहपूर्वक पूछ रहा हूँ। जिस एक अजन्मा आदि तत्त्व ने छः लोकों को धारण किया है उसका रूप क्या है ? यही मेरा प्रश्न है। इस प्रकार के आध्यात्मिक और आधिदैविक प्रश्नों के समाधान के लिए इस ब्रह्म विज्ञान ग्रन्थ में प्रयत्न किया गया है।

इस सम्बन्ध में समाधान यह है कि इस विश्व का जो एक असीम, नित्य ध्रुव, अद्वितीय आद्य कारण है वह ब्रह्म है, वह मूल है, विश्व तूल है। उसे ही हम ब्रह्म कहते हैं। वह आकाश के समान विभु या व्यापक है। वही सबसे पर ब्रह्म है। वह सबसे बृहत् है। उसी से जगत् का बृंहण या विस्तार होता है। वही सबका भरण करता है। उसके बाहर कुछ नहीं है। वही सबका

मूल विन्दु है। उसी से सब मण्डल या साम जन्म लेते हैं। ऐसा वह निर्विशेष ब्रह्म है। जितने विग्रह या शरीर हैं वे सब उसी पुरुष के अधीन हैं। यह सारा जगत् उस ब्रह्म के वृंहण से ही रचा गया है।

वही प्रजापति है। उसके दो रूप हैं। (१) अनिरुक्त (२) निरुक्त। अनिरुक्त प्रजापति निर्विशेष ब्रह्म है। निरुक्त प्रजापति, यह विश्व है (४७ श्लोक)। वस्तुतः अनिरुक्त और निरुक्त परस्पर अभिन्न हैं। दिग्-देश-कालके बन्धन में आना यही प्रजापति का निरुक्त भाव है। जब वह इनसे अपरिछिन्न रहता है तब उसे अखण्ड, निष्कारण और अनिरुक्त कहते हैं (४८)। जो अनिरुक्त है उसमें २-३-४ की संख्या नहीं। जो निरुक्त है उसी में धर्म और अधर्म का भेद देखा जाता है। संक्षेप में सार यह है कि जो कुछ हम देखते हैं, वह सब निरुक्त ब्रह्म है। उसीका मूल अनिरुक्त ब्रह्म है।

ब्रह्म दो प्रकार का है। एक शान्त दूसरा समृद्ध। यह दृश्य विश्व समृद्ध ब्रह्म का रूप है। जैसे जल में फेन या बरफ दृश्य हो जाता है वैसे ही यह दृश्य जगत् समृद्ध ब्रह्म का रूप है और सदा परिवर्त्तनशील है। जैसे मूल सुवर्ण धातु से बहुत से आभूषण बन जाते हैं वैसे ही ब्रह्म के शान्तरूप से अनेक समृद्ध रूप जन्म लेते हैं। समृद्धरूपों का पर्यवसान शान्तरूप में होता है (५५)। यदि ऐसा न माना जाय तो मोक्ष का कोई रूप नहीं रह जाता। अविधा की शक्ति से मुक्ति होती है (५७)। शान्त ब्रह्म में कर्म की शक्ति से समृद्ध ब्रह्म का जन्म होता है। उन्हीं कर्म खण्डों से समृद्ध विश्व की उत्पत्ति देखी जाती है। खण्डों के अनेक छोटे-बड़े रूप हैं, जो उत्पत्ति-विनाश क्रिया में आते हैं, जो शान्त ब्रह्म है। आनन्द का नाम ही शान्ति है। शान्त ब्रह्म कर्म में लीन हो जाता है। जो कर्मों की अक्षुब्ध स्थिति है वही शान्त ब्रह्म है।

ब्रह्म के साथ ही आप शब्द का विचार आवश्यक है,—जहाँ से यह कार्य जगत् उत्थित होता है, जो विशेष कार्यों को करता है और जो विशेष कार्यों में समभाव से विद्यमान रहता है, वह उस भाव में वर्तमान रहता है। जो उक्थ ब्रह्म है, अर्थात् उत्थान का बिन्दु है, वह ब्रह्म है (६५)। उक्थ ब्रह्म और आत्मा ये पर्याय हैं। षड्विंश ब्राह्मण में कहा है कि उक्थ ब्रह्म मन, वाक् और प्राण वे सब पर्याय हैं। आत्मा अङ्गी है और शेष उसके अङ्ग हैं (६८)। जैसे वन अङ्गी और वृक्ष उसके अङ्ग, वन धर्मी और वृक्ष उसके धर्म होते हैं उसी प्रकार मन, प्राण, वाक् ये आत्मा रूपी निर्विशेष के तीन विशेष हैं। जो निर्विशेष है, वही अखण्डात्मा है, वही देशकाल के बाहर है (७२-७३)।

किन्हीं का मत है कि यज्ञ और वेद की ही संज्ञा आत्मा है। प्रजापति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह प्रजापति ही आत्मा है। प्रजापति वह तत्त्व है जहाँ से प्रजाएँ उदय और लय को प्राप्त होती हैं। वही ब्रह्म, साम, उक्थ और लय है। उसे ही वैदिक लोग आत्मा मानते हैं। वह आत्मा जीवों का स्वामी है। सब ईश्वरों में महेश्वर है और क्षर भागों में अक्षर है। वह अव्यय है। उसे ही निर्विशेष मन भी कहते हैं (७६)। वह निर्विशेपात्मा तीन प्रकार का है। वैराज, शारीरिक और सोपसर्जन। जीव, ईश्वर और परमेश्वर ये वैराज के तीन भेद हैं। विराट् पुरुप, मन और निर्विशेष ये शारीरक के चार भेद हैं। एक परमेश्वर में अनेक ईश्वरों की सत्ता है और ईश्वर में अनेक जीवों की सत्ता देखी जाती है। परमेश्वर से परे जीवों में और कुछ नहीं है। यह वैराज है। जीवों में क्षर होता है किन्तु परमेश्वर में क्षर नहीं होता। योनि विशेष में आया हुआ शारीरक पुरुप सोपसर्जन कहा जाता है। एक ओर वह भूतों से, दूसरी ओर विराट् से उपसृष्ट रहता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों के मिलने से विराट् होता है। शारीरक प्रजापति एक ओर तीन देहों से उपसृष्ट होता है और दूसरी ओर वही देहातिरिक्त निरंजन पुरुप कहा जाता है। तीनों शरीर माया-वरण से उपसृष्ट होते हैं। उन्हें क्षर और अक्षर और अव्यय कहा जाता है। एक ओर माया से रहित अमृत परात्पर की सत्ता है दूसरी ओर तीन मायिक पुरुष देखे जाते हैं। जो परात्पर मायातीत है वह सर्वधर्मी और सर्वकर्मा होता है। वही अखिल रूप और भावोंवाला है। जो सब बलों से पृथक् है वह निर्विशेप केवल रस रूप है। जितने शरीर हैं वे पुरी हैं। उन्हीं के आधार से प्रजापति पुरुष कहा जाता है।

निर्विशेप प्रजापति जगत् का मूल है। इसी से आत्मा, प्रजा और पशु ये तीन विशेष उत्पन्न होते हैं और वे एक दूसरे में परिवर्त्तित होते रहते हैं। जगदात्मा प्रजापति तीनों कालों में विद्यमान रहता है। उसका एक प्राक्कालिक दूसरा सृष्टिकालिक और तीसरा प्रलयकालीन स्वरूप होता है जो अज्ञेय और अनिर्वचनीय हैं। उनमें नाम, रूप, और धर्मकी उपलब्धि नहीं होती और न वहाँ वाणी और मन का अवकाश है। उसे अनामय, अरूप, अनाम, अनिरुक्त, अव्यय, और अभय कहा जाता है। वह सबसे विलक्षण है। सृष्टि ही उसका लक्षण है। पूर्वकाल में वाष्कलि ने बाभ्र से ब्रह्म के विषय में पूछा था तब बाभ्र ने मौन रहकर ही उसका समाधान किया। जो नित्य शान्त स्वरूप है उसे वाणी से कहकर नहीं बताया जा सकता। ब्रह्म सृष्टि क्षण में सच्चिदानन्द है। उसका शान्तरूप परम आनन्द है।

सर्व विशेष भावों में अनुरक्त वह चित् रूप है और एक-एक विशेष भाव में वह सद् रूप है (१०१-१०२)। ऐसे अबोध्य और अनिरुच्य ब्रह्म का न कोई बोध है, न कोई निरुक्ति। जितने विरोध हैं वे सब ब्रह्म के अविरुद्ध रूप में लीन हो जाते हैं। ऐसा ज्ञानियों का कहना है कि जिसने उसे नहीं जाना उसने कुछ जान लिया, जिसने जानने का अभिमान किया वह कुछ जान नहीं पाया। वह ब्रह्म सर्वानुगत है, अर्थात् सब विशेषों में उसका कोई अविशेष रूप छिपा है। वह अलक्षण है। उसके दो भेद हैं। (१) स्वरूप (२) तटस्थ। इस जगत् के अतिरिक्त उसका और कोई स्वरूप लक्षण नहीं है, अर्थात् जगत् ही उसका स्वरूप है। किन्तु वह जगत् से अतिरिक्त ही है। सब नाम, सब रूप और सब कर्म उसी अविशेष ब्रह्म के विशेष लक्षण हैं। इन तीनों की सत्ता के कारण ही वह त्रिसत्य कहलाता है और उसे ही "सत्यस्य सत्यं" कहते हैं (१११-११२)। जैसे एक मूल से फल, पुष्प, पर्ण, प्रकाण्ड, शाखा, वृक्ष आदि की सिद्धि होती है, वैसे ही एक भाव से अनेक भावों का उदय विश्व कहा जाता है। एक रेत बिन्दु से शरीर के अनेक भावों की उत्पत्ति होती है। कोई नहीं जानता कि एक बिन्दु से विभिन्न भाव कहाँ से आ जाते हैं। एक रेत कणसे चक्षु और श्रोत्र कैसे अलग बन जाते हैं और क्यों एक दूसरे का काम नहीं कर सकते? क्षेत्रों की शक्तियाँ पृथक् रहती हैं। यह अचिन्त्य है, अर्थात् कुछ समझ में नहीं आता (११७)। इसपर ऐतरेय आचार्यका कहना है कि प्रत्येक अङ्गसे अलग-अलग रेत या तेज उत्पन्न होता है और वही मनुष्य देह में पृथक्-पृथक् भ्रूण सत्ता को प्राप्त होता है। सृष्टि के आरम्भ में जो कोई शरीर हुआ होगा वह एकाकी रेत से उत्पन्न नहीं था। वह भिन्न-भिन्न द्रव्याङ्गों से मिला कर बना था। पर इसका उत्तर यह है कि सृष्टि का इस प्रकार का कोई आदि काल नहीं बताया जा सकता (११९)। जैसे वृक्ष में हमेशा हम यही देखते हैं कि एक बीज या गुठली एक दूसरे से उत्पन्न होती है, बिना बीज के कोई वृक्ष उत्पन्न नहीं हुआ पर वह बीज वृक्ष के प्रत्येक अंग के सार संचय से बनता है; असृक्, मांस, अस्थि, मज्जा इनके अणुओं के समूह से रेत की उत्पत्ति होती है, उस रेत से शरीरों का विकास होता है, वैसे ही ब्रह्म की सूक्ष्म कलाओं से सृष्टि या विश्व का निर्माण होता।

ऊपर के मत पर निराकरण अयोनिज सृष्टि के सिद्धान्त द्वारा किया जाता है। बहुत से काष्ठफल और अन्नों में विभिन्न प्रकार के कृमि स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। उनके जन्म के लिए पृथक् योनियों की कल्पना नहीं की जा सकती

किन्तु उनमें जो भेद है वही उनके योनियों का कारण बनता है। जैसे मूलभूत एक जाति से बहुत सी जातियाँ बन जाती हैं, वैसे ही एक ब्रह्म से विश्व के नाना भाव जन्म लेते हैं, यही सृष्टि की रचना है (१२७)। एक मूल से बहुत से नियम बनते हैं। वे ही दो-तीन, आदि भेद सृष्टि के रूप हैं। प्रत्येक विषय कैसे बन गया है इस विषय में तर्कना या शंका नहीं की जा सकती। उनके अचिन्त्य भाव को वैसे ही मान लेना चाहिए। हम तो बस इतना ही जान सकते हैं कि एक भाव से बहुत से भाव बन जाते हैं। वे क्यों और कैसे बनते हैं यह जानना हमारी सामर्थ्य के बाहर है (१३१)।

इस सृष्टि के मूल में त्रिसत्य हैं—(१) रस (२) बल (३) अभ्व। रस अमृत है और अभ्व मृत्यु है। दोनों के बीच में बल प्राण है, जो अमृत और मृत्यु स्वरूपवाला है (१३२)। रस दो प्रकार का है। (१) शुद्ध निर्धमक, जो अलक्षण है और अमृत-मर्त्य से अवछिन्न है, दूसरा सर्वधर्मा जो विश्वरूप है, उसमें सब अभ्व बल समाविष्ट हैं। एक अखण्ड है और दूसरा सर्वखण्ड। आत्मा ही रस है दूसरा उसका कार्य है। एक विशेष्य, दूसरा उसका विशेषण है। प्राण विशेष्य और अमृत है। अभ्व विशेषण है। नाम, रूप और कर्म से ढका हुआ जगत् भिन्न दिखाई पड़ता है। यहाँ प्रत्येक पदार्थ या वस्तु का सत्य भिन्न-भिन्न है। जहाँ से सूर्य का उदय होता है और जहाँ अस्त होता है, वहीं देव सृष्टि का धर्म है। वह नित्य है, जैसा आज है वैसा ही कल रहेगा। पूर्व युग में सूर्य के रूप में प्राण की ही सत्ता थी। वह प्राण सूर्य रूप में दहक रहा है। वही भविष्य में भी रहेगा। सूर्य यदि प्राण को छोड़ दे तो उससे भिन्न कुछ नहीं रह जाता (१३९)। प्राण कभी मन या वाक् से हीन नहीं होता। वे तीनों अमृत-त्रिक हैं। मन, प्राण, वाक् इन तीनों में प्राण को ही मुख्य मानकर उसका कथन किया जाता है। यदि घट को प्राण कहा जाय तो उसमें रहने वाला घटत्व उसका कर्म, नाम और रूप है। उसी घटत्व को महत्, अभ्व और यक्ष समझना चाहिए। प्राण को रस कहा जाय तो मन और वाक् उसके बल हैं। रस, आभु और बल को अभ्व समझना चाहिए। अभ्व वह है जो होकर भी वस्तुतः कुछ नहीं होता। ब्रह्म आभु है और यह विश्व अभ्व है। रस के धरातल पर ही बल के कार्यों का उदय होता है। बल अनन्त हैं वे एक दूसरे से मिलकर अपना स्वरूप बनाते हैं, जिसे अभ्व कहते हैं। बल असत् है और रस सत् होता है (१४३–१४४)। आचार्य तित्तिरि और याज्ञवल्क्य का कथन है कि नाम, रूप और कर्म ये तीनों मिलकर अभ्व कहलाते हैं। त्रिलोकी से बाहर कोई परमात्म तत्त्व इन

तीनों की सृष्टि करता है। हरएक वस्तु में नाम, रूप और कर्म की सत्ता पृथक्-पृथक् होती हैं। कर्म भेद से रूप भेद और रूप भेद से नाम भेद देखा जाता है। अभ्व में बल की सत्ता है, उसके पीछे रस की सत्ता अवश्य रहती है या यों कहना चाहिए कि रस, बल और अभ्व इन तीनों की सत्ता एक साथ रस में रहती है। रसात्मा ही सत्य और अमृत है। वैशेषिक मत में घट और घटत्व इन दोनों में सत्ता का भाव माना जाता है। जो घटत्व है वही प्राण और निर्विशेष रस है, उसमें घटरूप निर्विशेष भाव रहता है। घटत्व सामान्य और घट विशेष होता है। अथवा घट को प्राण कह सकते हैं, क्योंकि सब बलों का कूट या समूह उसी में देखा जाता है। घट या बल के रूप से ही हमें सत्ता की उपलब्धि होती है। रस, बल से भिन्न आनन्द और प्रशान्त भाव की संज्ञा है। बल अभ्व और विज्ञान का नाम है (१६३–१६४)। इसके अनन्तर निर्विशेष के सम्बन्ध में कई मतों की उद्भावना की गयी है। जो निर्विशेष है, उसी के आनन्द की मात्रा से ही जीवन सम्भव होता है। यहाँ कौन जी पाता यदि आकाश रूप आनन्द की स्थिति न होती। विश्वगत प्रपूर्णता की संज्ञा ही आकाशगत आनन्द है। भूमा आनन्द का स्वरूप है। अल्पता में सुख नहीं है। वृद्धि की ओर बढ़ता हुआ व्यक्ति भूमा की प्राप्ति करता है। आनन्द दो प्रकार का है। एक भूमा या प्रशान्त, दूसरा समृद्ध। जितने जीव हैं वे सब आनन्द की मात्रा से उत्पन्न हुए हैं। आरम्भ में भूमा रूप शान्त आनन्द ही था। वही अणु रूप अभ्वों के साथ मिलकर स्वल्प बन जाता है और फिर समृद्ध भाव में आने का प्रयत्न करता है।

निर्विशेष का यद्यपि कोई लक्षण नहीं किन्तु दृष्टि, द्रष्टा और दृश्य को मिलाकर उसकी सत्ता है। वह सत्ता दो प्रकार की है। दिग्देशकालाश्रयी (विश्व में और उसके बाहर १९०-१९१) जो निर्विकार परमानन्दरूप अनामय सत्ता है, वही निर्विशेष है। उसे भूमा भी कहते हैं पर वह अणु से भी अणु है। विशेष और सामान्य उसी के रूप हैं। सत्ता, चेतना और आनन्द ये तीनों एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। उसे ही भूमा कहते हैं। ग्राह्य, गृहीता और ग्रहण इन तीन रूपों में वह व्यक्त होती है। यह जितनी सृष्टि है वह अनेक विशेषों से बनी है। इसमें जो अविशेष या सामान्य है वही भूमा है। पर, अक्षर, क्षर ये तीन पुरुष उसी निर्विशेष के रूप हैं (२०१)। कुछ आचार्य इसे ही अस्ति या भाति के रूप में देखते हैं। जो अस्ति है वह सामान्य सत्ता है। जो भाति है वह विशेष है। वस्तुतः ये एक ही तत्व के दो रूप हैं। प्रत्येक पदार्थ की पृथक्

सत्ता है, समस्त विश्व की ही सामान्य सत्ता है (२०६)। एक के ऊपर एक शृङ्खलाओं की सत्ता में सर्वोपरि समस्त विश्व की सत्ता है। वह निर्विशेष ब्रह्ममूलक है। सत्ताओं के भेद से घट-पटादि वस्तुओं का पृथक् भेद प्रतीत हो रहा है। एक ही चित् तत्त्व अपनी माया चतुर्धा विभक्त कर चतुष्कल बन रहा है। चेतना, सत्ता और आनन्द ये तीनों ही एकात्मक, अर्थात् एक साथ जुड़े रहते हैं। इनकी सह स्थिति से ही ब्रह्म का सच्चिदानन्द स्वरूप मिलता है। सत्ता ही विज्ञान, भूमा और रस है और वह निर्विशेष से पृथक् नहीं। सत्ता और विज्ञान दोनों पूर्ण वस्तु हैं। जो पूर्ण है उसीका ज्ञान होता और जिसका ज्ञान होता है, उसीकी सत्ता होती है (१९८)। आनन्द ग्रहीता, विज्ञान ग्रहण और सत्ता ग्राह्य तत्त्व की संज्ञा है। सच्चिदानन्द अविशेष रूप से सब में है और वही विश्वरूप है।

किन्हीं के मत में अस्ति और भाति पृथक् माने जाते हैं। वे लोग द्रष्टा, दर्शन, दृश्य का एकत्व स्वीकार नहीं करते। कुछ लोग इस मत को समीचीन नहीं मानते। उनकी दृष्टि में अस्ति और भाति, सत्ता और विज्ञान पृथक् नहीं हैं। जो है उसी की उपलब्धि होती है। उनमें पार्थक्य का सन्देह उचित नहीं। अस्ति और भाति का भेद ही माया है। एक चैतन्य अपनी माया से चतुष्कल रूप धारण करता है।

आनन्द, विज्ञान और सत्ता इनकी एकता बतायी गयी है। क्योंकि जहाँ सत्ता है उसी के आरम्भ से विज्ञान की उपलब्धि होती है (२२२)। आनन्द दो प्रकार का है—१. एक शान्तानन्द २. पाप्मानन्द, जो विषयों में लिप्त होने से मिलता है। आनन्द ही रस है। उसी से अमृत और मृत्यु प्राप्त होती हैं। आनन्द दो प्रकार का है (१) आत्मानन्द (२) स्त्री-पुत्र हिरण्य-वित्त संज्ञक पदार्थों का आनन्द। इनमें एक नित्य है और दूसरा अनित्य। एक से अक्षर पुरुष की अनुभूति का और दूसरे से क्षर पुरुष या भौतिक जगत् का आनन्द मिलता है। आनन्द एक प्रकार की ज्योति है, जो भूमा और रस से अनुभव में आती है। इसका एक स्वरूप आत्मा है किन्तु शरीर, स्त्री, पृथ्वी आदि इसी का वैभव या महिमा हैं। इनके प्रति ममत्व आत्मा के अहंभाव से ही उत्पन्न होता है। इनमें से किसी एक की हानि होने से ही जो न्यूनता का भाव आता है, वही दुःख है। श्रमणमत या बौद्धमत अस्ति-भाति आनन्द के आख्यान को नहीं मानता है। उसकी दृष्टि में एक मात्र कर्म ही तत्त्व है। और वही निर्विशेष का लक्षण बच रहता है। इनका कहना है कि कर्म के

अतिरिक्त कोई ब्रह्म नहीं है, कर्म ही विश्व है।

ब्राह्मणकारों के मत या ब्राह्मण दर्शन के मत में एक मात्र निर्विशेष ही ब्रह्म है। श्रमण मत में अखण्ड ब्रह्म जैसा कोई तत्त्व नहीं है किन्तु ब्राह्मण मत में वही एक मात्र तत्त्व है। इच्छा, उत्थान, वाक् इन अनेक तत्त्वों से जगत् का प्रसार फैला हुआ है। उसमें जो विशेष तत्त्व है वह संसार है और अविशेष ब्रह्म है। मनः साहस्री, प्राण साहस्री, वाक् साहस्री (अर्थात् भूत साहस्री) इन तीन साहस्रियों या अनन्त प्राणों से संसार बना हुआ है। जिसे हमने अभी-तक निर्विशेष ब्रह्म कहा है, वह सत्-चित्-आनन्द ही है। सत्ता, विज्ञान और आनन्द इन तीनों के मिलने से ब्रह्म तत्त्व की प्रतीति होती है। एक ही रस कर्म भेद से अनेकधा अनुभव में आता है। इस के धरातल पर बल का जन्म होता रहता है और वे बल पुनः इस में लीन हो जाते हैं। एक ही रस रूप ब्रह्म से नाना बल जन्म लेते हैं।

बलयुक्त रस की अद्वैत सत्ता है। रस से समय-समय पर बहुत से बल उत्पन्न होकर उसी में लीन या सुप्त हो जाते हैं। रस और बल का तारतम्य ही ब्रह्म और संसार है। रस और बल की ही अवस्थाओं को प्राणन् और अपानन् कहते हैं। रस और बल इन दोनों का अद्वयभाव है। बल रस से उत्पन्न होता है किन्तु उससे पृथक् नहीं होता है (२५१)। निर्विशेष के अद्वैतवाद के संबंध में तीन मत हैं। ब्रह्म रस रूप है और केवल उसी की सत्ता है। दूसरा मत यह है कि बल ही सब कुछ है। सत्यात्मक बल रस से विभिन्न सत्ता रखते हैं। तीसरा मत यह है कि रस और बल दोनों सनातन और नित्य हैं। इन तीन मतों में चाहे जिसको माना जाय, क्षति नहीं होती (२६२)।

ब्राह्मण मत में भी द्वैत का सिद्धान्त मान्य है। उनका कहना है कि रस की सत्ता पृथक् है और बल की सत्ता पृथक् है। रस के आधार के बिना बल की प्रतीति नहीं होती। दो बल आपस में टकराकर एक दूसरे का नाश करते हैं और उनमें से एक शेष रह जाता है किन्तु वही बल रस के साथ सन्तुलन प्राप्त करता है। और वह अपने आप को रस में अर्पित कर देता है। बल जब रसको छोड़ देता है तो उसका स्वरूप गति होती है और वही रस लीन होकर शान्त हो जाता है। (२६५)। हमारा मत यही है कि रस ही मूल तत्त्व है और इसी से सबकी प्रतिपत्ति होती है।

इसके अनन्तर सुख-दुःख का विचार किया गया है। आत्मा आनन्दमय है और जगत् दुःखमय है। कभी भूमा अणिमा, कभी अणिमा भूमा का रूप ग्रहण करती

है। ये दोनों पृथक् बल हैं और दुःख-सुख का कारण बनते हैं। किन्तु जब भूमा और अणिमा एक समान होते हैं तो वही आनन्द रूप रस का कारण होता है। जो अल्प है वह आर्त्तरूप है, जो भूमा है वह सुखरूप है (२७०)। पर, अमृत, अतिमात्र, परमानन्द यह भूमा का रूप है। भय, कम्प, स्थिति, विचय (स्थिति-का डाँवा डोल होना) ये मृत्यु के केन्द्र हैं। जो ध्रुव, प्रशान्त, अमृत है वही सदानन्दमय आत्मा है। जो अभय है वही अमृत आत्मा है। सृष्टि में आनन्द और विज्ञान आत्मा के लक्षण हैं, इनसे सुख होता है। सुख से रस और रस से आनन्द और अमृत मिलता है।

बौद्धधर्मी श्रमण मत में समस्त भोग्य पदार्थ दुःखरूप हैं। उनका कहना है कि यदि आत्मा आनन्दमय होता तो सर्वत्र सदा सुख ही रहता, जैसे ज्योतिष्मान् सूर्य को कभी अन्धेरे में नहीं रहना पड़ता (२७५)। समस्त भोग्य में कहीं आनन्द नहीं है। जिस वस्तु को पाकर पहले सुख होता है उसी की अधिक मात्रा हो जाने से विरक्ति हो जाती है (२७६)। न आत्मा में आनन्द है, न भोग्य वस्तुओं में। सुख और दुःख सब क्षणिक हैं (२७८)।

ब्राह्मण दर्शन के अनुसार आत्मा आनन्द स्वरूप और अजय है। लोक में प्रतिकूल वेदना को दुःख और अनुकूल आनन्द को सुख मानते हैं। यदि आत्मा और भोग्य दोनों दुःखरूप हैं तो वे प्रतिकूल होते। आत्मा आनन्दमय है, क्योंकि जगत् भी आत्मयुक्त है अतः वह भी आनन्दमय है। प्रश्न है कि यदि ब्राह्मणमत में सब कुछ आनन्दमय है तो लोक में दुःख क्यों है? इसके उत्तर में हमारा यह प्रश्न है कि जो लोग सब कुछ दुःख ही मानते हैं उनके मत में सुख का क्या स्थान है? उनके मत में प्रियत्व और अनुराग ही क्या है (२८५)? हमारा कहना है कि मृत्यु और विनाश सबसे बड़ा दुःख है और जीवन ही सबसे बड़ा सुख है। जो सत्ता या भाव है वही सुख है। सुख स्वाभाविक है और स्वतः उत्पन्न होता है। दुःख दोष से होता है। दुःख कर्मानुसारी है। प्रज्ञापराध से दुःख होता है और कर्मदोष से प्रज्ञापराध। एक मत यह है कि भोग्य वस्तुओं में आनन्द नहीं है केवल आत्मा ही आनन्दरूप है (२९८)। आत्मा निष्काम और विषयों से अनपेक्ष है। वह रागादि से रहित, और विषयों में असक्त है (३०५)। जो भोग्य वस्तुएँ या विश्व है यह भी आनन्द से ही विकसित हुआ है और आनन्दरूप है, यही ब्राह्मणमत है। आत्मा अपने आनन्दरूप से भोग्यवस्तुओं को भी आनन्द से रञ्जित कर देती है। आत्मा के आनन्द की एक कला भोग्य वस्तुओं में भी आती है। आत्मा भोग्यवस्तुओं को आत्मा से संयोग करके उनके

साथ अभिन्न हो जाती है और उन्हें भी अपने समान प्रिय समझने लगती है। यह विश्व आनन्दमूलक है। यहाँ जितने प्राणी हैं सब आनन्द से उत्पन्न हुए हैं और आनन्द से ही जीवित रहते है। प्रजापति की इस सृष्टि में स्त्री-पुरुष के आनन्दरूप संप्रहर्ष से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है। वे प्रतिक्षण हर्ष की मात्रा से जीवित रहते हैं। शरीर जो कुछ अन्न ग्रहण कर तृप्ति को प्राप्त होता है वह आनन्द का ही रूप है। यदि इन भूतों को अन्नादि का आनन्द न होता तो आत्मा को भी तृप्ति न होती। लोक का जो आहार-विहार है वह सुख का कारण है और सुखदायक होने से आनन्द का रूप है। अत्यन्तगूढ़ जो ब्रह्म रूप है उसका कोई रूप नहीं है और वह लक्षणहीन है। बृहत् और अतिशय परिवृहित तत्त्व ब्रह्म है, वही भूमा है। यही सर्वगत परम रूप है। उसमें सब नाम रूप हैं। उस नाम से भी वाक् बड़ी है। वाक् से मन, और मन से भी कोई तत्त्व और अधिक महान् है। वही ब्रह्म और संकल्पयुक्त है एवं विज्ञान और प्रज्ञान इन दोनों से बड़ा है (३२८)। प्राण, मन और विज्ञान इनमें उत्तरोत्तर जो विज्ञान कोटि है, वही ब्रह्म है। श्रद्धा उसी ज्ञान में कारण है। श्रद्धा के विना ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता। भूमा (ब्रह्म) उसका रूप है। वह अमृत रूप है और दिग्देशकाल की परिधि से ऊपर है एवं सर्वत्र व्याप्त है। जिसमें खण्डभाव नहीं है वही परिपूर्णरूप भूमा है (३३७)। भूमा अखण्ड रस रूप है, जो सब पदार्थों में व्याप्त है।

अणिमा—

कुछका मत है कि यहाँ पर दृश्य वस्तुएँ अवयव रूप हैं। कुछ भी अखण्ड नहीं है। अणु से अणु वस्तु भी अखण्ड नहीं है। बल से खण्ड और रस से अखण्ड भाव की उपलब्धि होती है। भूमा अमित है। उसी में बल से अनेक मान उत्पन्न होते हैं। पूर्ण अमात्ररस भूमा है। वह ब्रह्म सबका प्रभव, प्रतिष्ठा और परायण है। उसी से सब प्रजाएँ जन्म लेती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं। जैसे सब जल आकाश में उठकर समुद्र में लीन हो जाते हैं, जैसे अनेक पुष्पों के रस एक मधु के क्षत्ते में मिल जाते हैं, वैसे सब रसरूप या आनन्दरूप आत्माओं का मिलन होता है। जैसे एक ही रस वृक्षके मूल, मध्य और ऊर्ध्व भाग में व्याप्त रहता है, वैसे ही ब्रह्म इस विश्व में है (३६५)। उस रस से शाखा-प्रशाखा सूख जाती है, वैसे ही प्राण-रस से भूतों को मृत्यु हो जाती है। जैसे वट के फल में अणु के समान बीज होता है और उसमें वट का पूरा वृक्ष छिपा रहता है, वैसे ही ब्रह्म के सूत्र रूप में यह विश्व है। इसके अनन्तर रस और बल तथा सदसद्,

अमृत, मृत्यु, रस आदि के विषय में इतर मतों की आपत्तियों का विचार किया गया है। इसका निष्कर्ष यही है कि रस, अमृत, असत् आदि की प्रवृत्ति निर्विशेष तत्त्व की ओर है। उनके विपरीत बल, मृत्यु आदि तत्त्व विश्व की ओर संकेत करते हैं। बल द्वैत भाव, विशेष भाव और उच्छित्ति उद्देश्य या विनाश का सूचक है। यह सारा विश्व मृत्यु के बन्धन में है (३७३)। गति और प्रतिष्ठा बल और रस के रूप हैं। गति के साथ उच्छेद का संम्बन्ध है।

बल से युक्त होकर रस विकारी और ससीम हो जाता है। वयोनाध बल और उससे ढके हुए रस को वय, कहते हैं। वय, वयोनाध के मिलने से जो पदार्थ बनता है वह बयून कहलाता है। ये परिभाषाएँ वैदिक आवरणवाद के अन्तर्गत थीं (३७६)। 'अस्ति' कहने से प्रतिष्ठा भाव सूचित होता है वही रस या अमृत का संकेत करता है। जो आवरण से अतीत हैं वह भूमा है और जो आवरण से छन्दित हो जाता है, वह अल्प है (३८०)।

अहोरात्रवाद की दृष्टि से ज्ञान और प्रकाश रस रूप हैं और कर्म तथा तमिस्रा या रात्रि बल रूप हैं। बलोदय से ही जगत् बनता है। कर्मों से मुक्ति विरजरस-भाव है (३८४)।

ब्रह्म अज्ञेय और अनिर्वचनीय है किन्तु उसी की उपासना करने योग्य है। जो सच्चिदानन्दरूप से प्रसिद्ध है वही निर्विशेप है, ऐसा भी एकमत है (३९४)। कोई उसे ही परात्पर और अव्यय भी कहते हैं (३९६)। कोई कहते हैं कि जो नाम, रूप, कर्म से रहित है वह निर्विशेष है।

सब बल के आश्रय से ही रस की प्रतीति होती है (४१५)। रस और बल दोनों के मिलने से सृष्टि होती है। केवल रस और केवल बल से सृष्टि नहीं होती (४२३)।

जो निर्विशेष है उसके विषय में निर्लक्षण होने से कुछ कहना संभव नहीं। जब वह बलों से आबद्ध होता है तब रस रूप है। किन्तु उसी के अनेक विक्षुब्ध रूप दृश्य जगत् का निर्माण करते हैं। जो कारणहीन है या सब कारणों का कारण परम शक्तिमान् ईश्वर है उसमें एक अविभक्त मनस्तत्त्व है, उसी से अनेक मन बनते हैं, जो अनेकानेक ईश्वरों में और अनेक जीवों में अवतरित होते हैं। इस प्रकार के अनेक मन उत्पन्न होकर उसी विराट् मन या बुद्धितत्त्व में लीन होते रहते हैं।

■

परात्परानुवाक

[पृष्ठ ३८-९१]

(श्लोक सं० १-६९१)

निर्विशेष ब्रह्म के विषय में विस्तृत वर्णन के बाद लेखक ने परात्पर ब्रह्म का ५६ पृष्ठों में विस्तृत वर्णन किया है। आरम्भ में रस और बल, अमृत और मृत्यु, अव्यक्त और व्यक्त आदि तत्त्वों की व्याख्या की गयी है। पहली शृङ्खला का सम्बन्ध ब्रह्म से है और दूसरी शृङ्खला का सम्बन्ध विश्व से है।

रस कहीं बल-संचारी होता है और कहीं बल से संवेष्ठित होता है। ग्रन्थि के रूप में जब कई बल एक साथ जकड़े हुए होते हैं तो उससे बन्धन होता है। वह दुःख और मृत्यु का रूप है किन्तु जब कोई बल ग्रन्थिविहीन होकर दूसरे बल के साथ रहता है तो उसे सहचारी समझना चाहिए, जैसे स्वामी और भृत्य का सम्बन्ध, बलों के बन्धन का एवं दो मित्रों का सम्बन्ध बलों के उन्मुक्त भाव एवं रस का संचारी भाव है (१५)। ब्रह्म में बल के प्रभाव से नाना रूपात्मक विश्व की उत्पत्ति होती है, जैसे कुम्भकार मिट्टी को गूँथ कर घड़े बना लेता है (१७) या सुनार सोने से अनेक आभूषण गढ़ लेता है। जगत् के मूल में सत्यात्मक ब्रह्म की सत्ता होने से वह सत् रूप है यह सत्य है किन्तु नाना रूपों की नश्वरता से यह मिथ्या है (१८)।

सृष्टि के तीन प्रकार हैं—(१) स्वाभाविकी या स्वयं सृष्टि, दूध से दही, फेन, मट्ठा आदि (२) मानसी (३) मैथुनी। सूर्य के अस्त होने से जो अन्धकार होता है वह सहज या स्वयं स्वाभाविक सृष्टि है। मनोभावों के रूप में मानसी सृष्टि होती है और माता-पिता के रजोयोग से मैथुनी सृष्टि होती है। विज्ञान, श्रद्धा एवं मन, प्राण के द्वारा जो सृष्टि होती है वह मानसी सृष्टि होती है (२३)। रस में बलोदय स्वयं सृष्टि कहलाती है (२७)। एक मत यह भी है कि सृष्टि दो प्रकार की है। सृष्टि का कोई अपना स्वयं अस्तित्व नहीं है। नियम यही है कि सूक्ष्म से उत्तरोत्तर स्थूल की उत्पत्ति होती है। जितने धर्म हैं वे अव्यक्त रूप से मन में रहते हैं, वे ही व्यक्त भाव को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मरूप रस में विचित्रता के उदय होने से महिमा भाव का जन्म होता है। महिमा-बल के प्रभाव से वह रस उत्तरोत्तर विशेष बल को धारण करता है। रस में माया बल,

अशनाया बल, ऊर्मि बल के जन्म लेने से जो सम्मिलित बल उत्पन्न होता है वही मनोबल है। रस में इन तीन बलों के कारण जब मन का जन्म हुआ तब उसी बीज से विश्व की सृष्टि हुई (३८)। अमित रस में मित भाव या मात्रा को माया कहते हैं। माया को ही 'प्रभा' मात्रा या आवरण, भी कहा जाता है (४१)। मन से ही अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन पुरुषों का जन्म होता है। उन्हीं को प्रकारान्तर से मन, प्राण, वाक् कहा जाता है। क्षुद्र और महत्, अणु और विराट् जो कुछ भी है, वह चतुष्पाद है, इसे ही परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर कहा जाता है। इनमें अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीन पुरुषों से विश्व की सत्ता है, चौथा परात्पर इन सबके ऊपर है। नासदीय सूक्त में उसी के लिए कहा जाता है—

तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास

अर्थात् परात्पर से परे और कुछ नहीं है। जो दृश्य स्थूल भौतिक विश्व है वह क्षर है। उसी के लिए गीता में कहा है—**क्षरः सर्वाणि भूतानि**····। उसके भीतर जो प्राणतत्त्व है, जो उसकी गति है, वही अक्षर है (**कूटस्थोऽक्षर-मुच्यते**) और उससे भी आगे जो मन रूप है वही अव्यय है। इन तीनों से परे चौथा परात्पर है जिसके धरातल पर ये तीनों कार्य करते हैं।

मन सबका आलम्बन है। अव्यय, अक्षर, क्षर ये ॐकार की तीन मात्राओंके समान हैं और इनसे आगे जो तुरीय है, वह ॐकार की अर्धमात्रा के समान है।

अमित में मित भाव लानेवाला बल माया है। माया बल सृष्टि में लाये विना सृष्टि संभव नहीं। मायाबलों से ही त्रिविध सृष्टि होती है (**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**)। माया के उन्मेष और निमेष से विश्व में शान्ति और समृद्धि दो भाव उत्पन्न होते हैं। माया से उपहित होने वाले विश्व का रूप समृद्धि कहलाता है। अनन्त माया बल के मिलने से एक महामाया बल कहाजाता है (५४)।

कर्म, रूप और नाम इन तीनों के मिलने से माया बल होता है। माया बल की यही तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है। मन ब्रह्म के परार्द्ध भाग से नाम, रूप और लोकों की कल्पना करता है। उसे ही प्रजापति का रूप कहा है (५७)।

माया कर्म, नाम, रूप का मितकरण करती है। ये तीनों व्यापार मनोबल में जन्म लेते हैं। मन ही इनका अवरोधक है (६७)। माया में प्रवृत्ति बल का नाम अविद्या और निवृत्ति बल का नाम विद्या है। इन्हें ही उद्ग्राभ और निग्राभ कहते हैं। माया का उद्ग्राभ अविद्या और निग्राभ विद्या है। विद्या और अविद्या

में सब बल विलीन हो जाते हैं। इनके अर्थों में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिए, क्योंकि संसार की प्रवृत्ति अविद्या है और निवृत्ति विद्या है। विद्या मुक्ति का और अविद्या सृष्टि का रूप है (८१)।

मन, भूमा और अणिमा के योग से नाना वैचित्र्य होते रहते हैं। ये ही उसकी ऊर्मियाँ हैं। माया के बल से रस में जो सर्वप्रथम मिति-भाव आता है वह भूमा का ही रूप है। कहीं वह भूमा-भाव और कहीं मिति-भाव का निर्माण करती है (९७)। माया से उपहित मन में ही महतोमहीयान् और अणोरणीयान् रूप उत्पन्न होते हैं। इन दोनों का रूप परिवर्तन होता रहता है। कभी भूमा अणिमा भाव में कभी अणिमा भूमा भाव में अनुभव की जाती है।

मन के स्वरूप के विषय में यह उल्लेखनीय है कि मन का स्वरूप चिदात्मक है। माया, अशनाया और ऊर्मि के चिति भावों से चेतना की उत्पत्ति होती है (९९)। चित्, चेतना और चिद्भाव ये पर्याय हैं, जो रस में बल के संयोग से जन्म लेते हैं। रस बलों के चयन की संज्ञा का नाम है। वह अव्यक्त तत्त्व सर्व प्रथम मन के रूप में ही व्यक्त होता है। चिति की इच्छा से जो प्रवृत्ति होती है उसे ही चेतना कहा जाता है (१०४)। यज्ञीय कर्मकाण्ड में उसे ही अग्न्याधान रूप चिति कहते हैं (१०५)। जो चितिस्वभाव से ऊपर है उसे ही परात्पर कहते हैं। वही जब एक या अनेक चिति भावों को प्राप्त होता है तो चित्पुरुष कहा जाता है (१०६)। इस मन के वैचित्र्य से अनेक प्रकार की विचित्र सृष्टि होती है, जिनका यज्ञीय रूप अग्निसृष्टि है और दूसरा पुरुषसृष्टि है। माया के कारण मन के अनन्त खण्ड रूप दिखाई पड़ते हैं। चेतना चार प्रकार की होती हैं। उसके दूसरे चेतना रूप से ही तीन प्रकार का विश्व उत्पन्न होता है। इस प्रकार एक विश्वातीत तत्त्व और तीन विश्वचर तत्त्वों को चेतना का ही रूप कहते हैं। उसी त्रिविक्रम चेतना से सर्ग का वितान होता है। हृदय या केन्द्र का जो त्रिविध विकास होता है, जिसे क्षर, अक्षर, अव्यय कहा जाता है, वह चेतना का ही रूप है। तीन वेद, त्रेधा यज्ञाग्नि और तीन पुरुष ये त्रिसर्गात्मक विश्व के ही रूप हैं (१११) । तीन प्रकार की चेतना के मूल में जो एकत्र भाव है उसे चित भाव कहा जाता है। अथवा यों कह सकते हैं कि तत्त्व के मुकुलित भावकी संज्ञा चित और विकसित भाव की संज्ञा चेतना है।

चतुर्विध चेतना के अन्तर्गत व्यक्तिगत चेतना तीन प्रकार की है, वही मृत्यु का रूप है। अमृत रस को संवेष्टित करके स्वयंभू स्थिर ग्रन्थि-बन्धन करता है। वह मृत्यु बल ही प्राण या क्रिया है, जो उत्पन्न या क्षीण होती है। बल बल का

वेष्टन करता है, रस वेष्टन नहीं करता। वह तो संवेष्टित किया जाता है।

अमृत में बल ग्रन्थियों से तीन प्रकार की मृत्यु जन्म ग्रहण करती है। रस में बल की पहली चिति अमृत का मृत्यु भाव में आना है। अमित बल का मित भाव में आना दूसरी चिति है। पहली चिति से बल और दूसरी से वयोनाध तत्त्व का जन्म होता है। वयोनाधरूप में उत्पन्न मितिभाव को ही माया कहते हैं। वह माया बल अपूर्णता के कारण अशनाया तत्त्व को जन्म देता है। केन्द्र में जो तत्त्व नहीं होता उसे बाहर से लाने की इच्छा अशनाया या बुभुक्षा कही जाती है। वय और वयोनाध इन दोनों के मिलने से वयुन नामक तीसरी चिति कही जाती है (१२१)। वयोनाध पात्र की संज्ञा है। उसमें जो रस भरा जाता है वह वय है। इन दोनों से जो पदार्थ बनता है उसे वयुन कहते हैं। वय, वयोनाध और वयुन ये चिति के तीन भेद हैं। इन तीनों के संयोग से ही व्यक्तिबल बनता है। महान् या अणु प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप इन तीनों से बनता है (१२२)। वस्तु की सीमा को वयोनाध कहते हैं और वह देश तथा काल के भेद से दो प्रकार की हैं। वयोनाध को आवाप या आवपन् भी कहा जाता है (१२३)। वय, अन्न और अन्नाद इनकी संज्ञा वयुन है। (१२३)। इन तीनों से शून्य कुछ भी नहीं है। अन्न और अन्नाद का नियम सबकी प्रतिष्ठा है। एक तिल या शालि (धान) की जो आकृति है वह उसका वयोनाध रूप है। उसमें जो भूतरस है वह वय है और जो वस्तु प्रभाव है वह वयुन है (१३०)। रस में बल द्वारा छन्द या ससीम भाव की उत्पत्ति वयोनाध है। अव्यय, अक्षर और क्षर (मात्रा) भेद से छन्द तीन प्रकार का होता है। उन्हें ही भा, प्रभा, और प्रतिभा भी कहते हैं (१३६)। छन्द या मिति भाव का नाम भा है, जैसे अणु, महत्, ह्रस्व, दीर्घ आदि (१३६)। गो, पशु, स्त्री, पुरुष आदि आकृतियों का प्रभाव निश्चित करने वाला प्रभा कहा जाता है। जो प्रतिरूप, अनुरूप या अभिरूप, अर्थात् नमूना है वह प्रतिभा कहा जाता है, जैसे द्वादश रात्रियाँ संवत्सरकी प्रतिभा कही जाती हैं, अर्थात् बारह महीनों का नमूना बारह रात्रि या बारह दिन के रूप में ग्रहण किया जाता है।

परात्पर ब्रह्म में जो वयरूप मनोबल है वह तीन प्रकार का है, अर्थात् मन, प्राण, वाक्। मन के द्वारा रस का ज्ञान सहित उपभोग किया जाता है, उसे उपोम्भन कहते हैं। जिस बल से रस का मर्दन किया जाता है उसे प्राण या छर्ी बल कहते हैं। जिस बल से रस कश्मल का रूप धारण करता है, वह

भूति या वाक् बल कहा जाता है। वस्तु के निर्मित स्वरूप का परिचायक वयुन बल कहा जाता है (१४५)। पृथक् वस्तु को अपेक्षा वयुन ही सार है। वय से वयुन की रक्षा होती है और वयुन से वयोनाध की रक्षा होती है। वयुन बल तीन प्रकार का है, जैसे – जिन धर्मों से वस्तु की पृथक् सत्ता का भान होता है वह उसका आत्मिक बल है। उसमें दिग्देशकाल, संख्या जो उसके प्रतीक हैं वे आगन्तुक, अनात्मिक धर्म हैं। फेंके हुए ढेले में जो नोदनादिक बल हैं, वे भी वयुन या पदार्थ में तीसरे प्रकार के धर्म हैं (१५०)। प्रत्येक वयुन जैसे ही विच्छिन्न होता है अपने वय की शक्ति से एवं अपने वयोनाध की शक्ति से पुनः जन्म ग्रहण करता है, ऐसा विश्व का नियम है। इसे अन्न-आन्नाद के नियम के रूप में भी प्रत्यक्ष देखते हैं। अन्न से पूर्व अशनाया या बुभुक्षा होती है। अन्न लेने के बाद कुछ देर तक तृप्ति देखी जाती है। पुनः अन्न के लिए अशनाया का प्रकोप होता है, जिससे संकोच-विकास का परिच्छिन्न बनता है। यही वय-वयुन का नियम है। वयोनाध, वय और वयुन दोनों को मिलानेवाली संधि है। इन तीनों की संयुक्त संज्ञा मन है।

चित् और चेतना ये ब्रह्म के दो रूप हैं। चित् स्वरूप आत्मा केन्द्रस्थ या ब्रह्म का निजी रूप है। किन्तु वही त्रिविध बृंहणभाव में चेतना कहा जाता है। चेतना स्पन्दन है जिसके कारण सर्व प्रथम केन्द्र में संकोच-विकास उत्पन्न होता है। फिर वह केन्द्र से परिधि की ओर जाता है और सोमरूप में परिधि से केन्द्र की ओर लौटता है। केन्द्र बिन्दु को हृदय भी कहते हैं (१८८)।

प्रत्येक वस्तु के स्वरूप निष्पादन में तीन भुवनों की सत्ता है। पहला हृदय, दहर भुवन, हार्द भुवन या अन्तर भुवन कहलाता है। इस हृदय बिन्दु या दहर भुवन के आधार पर जो निकाय या चिति बनती है, उसे दहर भुवन कहा जाता है (१९०)। उसके विभव या महिमा भाव को पारावत भुवन कहते हैं, जहाँ तक वस्तु का विस्तार होता है। प्रत्येक आत्मा में तीन भुवन त्रिविक्रम धर्म के कारण जन्म लेते हैं। त्रिविक्रम का उल्लेख 'इंद विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे-पदम्'—मन्त्र में आता है। और भी दूसरी दृष्टि से भुवन तीन हैं (१) परोक्ष (२) प्रत्यक्ष (३) बहिः। परोक्ष को सर्वान्तर, बिन्दु, बीज और नाद कहते हैं। भुवन, पुर, मण्डल ये पर्यायवाची शब्द हैं (१९२)। व्यक्ति भाव-प्रचित भुवन हैं। एक भुवन से दूसरे भुवन का निर्माण होता है। आत्मा या योनि प्रतिष्ठारूप में सब भुवनों को धारण करती है, जैसा इस मन्त्र में कहा है –

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

यजु० (३१।१९)

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

ऋ० १०।१२१।१०

वस्तुतः एकमात्र बल हृदय बल है। उसी के तीन रूप हो जाते हैं, अर्थात् हृदय से बाहर जानेवाला और बाहर से हृदय की ओर आनेवाला विष्णुबल। ऋषियों ने तीनों की अनेक परिभाषाएँ बाँधी हैं—उदाहरण के लिए—ब्रह्म, ज्ञान-विज्ञान, वेद, आवाप, व्योम, उक्थ, यज्ञ ये प्रथम कोटि के बल हैं। दूसरी कोटि में क्षय, राष्ट्र, ईश्वरत्व, प्रभुत्व, संभोक्तृत्व, शासकत्व, वशित्व आदि बल हैं, जिन्हें प्रतीक बनाकर ऋषि अभीष्ट अर्थों का कथन करते हैं। तीसरी कोटि में विट् या वैश्य धर्म है, जैसे इट, अर्क, पशु, क्षेत्र, संपत्ति, भोग, अन्न, श्री आदि। इन तीन प्रकारके कार्यों से अभिव्याप्त पुरुष का रूप है, जिसे पुरुष कहा गया है।

चेतना के दो प्रकार हैं—(१) अमृत (२) मर्त्य। अमृत चेतना का स्वरूप देव है। अमृत चेतना देवों के रूप में और मर्त्य चेतना भूतों के रूप में देखी जाती है। उसके भी दो विषय हैं—(१) अधिदैवत और (२) आध्यात्मिक। मन, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र ये ही पंचदेव या प्राण हैं। जो भूत चिति से बनने वाला शरीर या निकाय है, वही बीज वपन का क्षेत्र है। तीन भुवनों में यही प्रत्यक्ष है (२१३)। उसी की नाभि या केन्द्र को हृदय कहते हैं। नाभि या हृदय ही योनि है। इस क्षेत्र में जो बीज बोकर फल उत्पन्न होता है, उसे व्यक्ति भोगता है और वही मन है (२१४)।

चेतना के त्रिविध विक्रमणमें अग्नि तीन प्रकार से और सोम भी तीन प्रकार से विकसित होता है। अग्निके उन तीन रूपों को अग्नि, यम, और आदित्य कहते हैं। सोम के भी तीन रूप हैं आपः, वायु और सोम। पहली तीन प्रकार की अग्नियाँ तीन प्रकार के सोमों का भक्षण करती हैं। इसके अतिरिक्त विराट् में भी तीन भुवन हैं जिन्हें वैराज भुवन कहा जाता है—(१) अग्नि (२) आदित्य और (३) सोम। उक्थ, हृदय और विभु यह सर्व व्यापक रस जहाँ एक-एक बल के बन्धन को प्राप्त होता है, वही उसका हृदय विवर्त्त कहलाता है। वे बल उत्पन्न होकर नष्ट होते जाते हैं। इनसे आत्मा के कर्मोंका जन्म

होता जाता है। ज्ञान, क्रिया, अर्थ ये हृदय के तीन चेतन तत्त्व हैं। मन के विना ज्ञान का उदय नहीं होता। प्राणके विना कर्म या क्रिया नहीं होती (२२१)। उन-उन वलों को अर्क कहा जाता है। उस आत्म केन्द्रको, जहाँसे उक्थ की धाराएँ जन्म लेती हैं, उसे हृदय और उक्थ भी कहते हैं। अर्क की धारा चारों दिशाओंमें फैलकर एक मण्डल बनाती है (२२४)। हृदय में तीन अक्षर हैं। हृ का संकेत वस्तु का भीतर से बाहर को आहरण करने वाला विष्णु है। जो तत्त्व लाया जाता है उसकी संज्ञा सोम है। द का संकेत केन्द्र से बाहर की ओर फेंकने वाला देवता इन्द्र है, उससे शक्तिका ह्रास होता है। हृ, अर्थात् आदान एवं द, अर्थात् प्रदान इन दोनों बलों को संतुलित रखने वाला प्रतिष्ठा बल ब्रह्मा कहलाता है, जिसका संकेत य है। इस प्रकार हृ द य इन तीन अक्षर तत्त्वों या वलों के सम्मिलन से जो व्यवस्था उत्पन्न होती है उसे हृदय बल कहते हैं और उसका ज्ञान हृदय विद्या है।* हृदयरूप चित् केन्द्र में अग्नि, सोम, और विराट् ये तीन तत्त्व रहते हैं। हृदय अग्निका प्रक्षेपण करता है, सोम आहरण करता है। अग्नि इन्द्र है। सोम विष्णु है। वस्तुतः इन्द्र और विष्णु इन दो बलों के स्पर्धा से हृदय का स्वरूप सकुशल रहता है। यावत् जीवन ये दो देवता परस्पर आकर्षण-विकर्षण से द्वन्द्व करके रहते हैं। इनका वर्णन ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में आता है।

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे, ऋग्वेद १।६९।८

हृदय विद्या पर विचार करने का एक दूसरा भी दृष्टि कोण है, जिसके अनुसार हृदय में पाँच देवता हमेशा रहते हैं—(१) ब्रह्मा, (२) इन्द्र, (३) विष्णु, (४) अग्नि, (५) सोम, इनमें से तीन ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु ये चित् कहलाते हैं। चित् को उक्थ, चेतना, और अर्क भी कहते हैं एवं अन्तिम अग्नि और सोम को अशीति (२२७)। इन पाँच अक्षर देवताओं को क्षत्र, आन्द या राष्ट्र भी कहा जाता है। उस क्षत्र में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, अग्नि और सोम का नहीं। विराट् ब्रह्मा केन्द्र में बैठकर अपने राष्ट्र में अग्नि की शक्ति का नियन्त्रण करता है। सोम उस राष्ट्र से बाहर रहते हुए उस अग्नि में निरन्तर आहूत होता रहता है। क्षत्र की सीमा अग्नि और सोम है। इसे राष्ट्र, त्रिपुरी, उक्थ या विराट् कहते हैं (२३०)। इन भिन्न बलों की ग्रन्थि की संज्ञा हृद्-ग्रन्थि है। प्रत्येक बिन्दु या केन्द्र में तीन अक्षर देवता ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम की सहायता से एक धामच्छद् प्राण को उत्पन्न करते

* बृहदारण्यक ५।३।१

है। क्षर या भूत भौतिक होता है। वह स्थान रोकता है और प्रकाश की रश्मियों का अवरोधक बनकर उन्हें प्रतिफलित करता है। इसलिए उसकी संज्ञा धामच्छद् प्राण है। इसे अत्रि-प्राण भी कहते हैं, क्योंकि उसमें ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, केवल इन तीन प्राणों की इयत्ता नहीं है। अग्नि और सोम का सम्बन्ध वही है जो आन्नाद और अन्न का। अद् भक्षणे धातु की दृष्टि से यही अत्ति धर्म (या भक्षणशीलता या अशनाया) परोक्ष भाषा में अत्रि कही जाती है। किसी भी केन्द्र में जब तक ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अर्थात् प्रतिष्ठा, गति और आगति केवल ये तीन बल रहते हैं तबतक उसमें शक्ति की विद्यमानता होते हुए भी वस्तु का भौतिक रूप नहीं बनता। उन तीन देवों के साथ जब अग्नि, सोम का संयोग होता है तब भी बाहर से पञ्चभूतों का खिचाव होने के कारण वस्तु का भौतिक रूप बनता है। "क्षरः सर्वाणि भूतानि" की परिभाषाक्षर पर पञ्चभूत ही धामच्छद् गुण का निर्माण करते हैं। इसी गुण के कारण एक छोटा सा तिल महान् सूर्य की रश्मियों को प्रतिफलित कर देता है। ब्रह्मा ऋक्, यजु, साम भेद से त्रिवृत्त् हैं। ऋक् को महोक्थ, साम को महाव्रत और यजु को अर्क कहा जाता है। ब्रह्म का अभिप्राय प्रतिष्ठा और परिबृंहण भी है। उनमें ऋक्, यजु, सत्य की परिबृंहण संज्ञा है और ऋक्-साम प्रतिष्ठा तत्त्व हैं। ऋक् को व्यास और साम को मण्डल या परिधि कहते हैं। इनसे वस्तु का ढाँचा तैयार होता है। उस ढांचे के भीतर जो स्पन्दन है वही बृंहणात्मक यजु है। वस्तु के मूर्त्त पिण्ड को ऋक् और वस्तु के तेजोमण्डल को साम ओर गति तथा आगति के स्पन्दन को यजु कहा जाता है—

> ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
> सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं वेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥

तैत्तिरीय ब्रा० ३।१२।९।१

वैदिक परिभाषा में इन्द्र शब्द का विशिष्ट अर्थ मध्यप्राण है, वही हृदय गत स्पन्दन का कारण है, वही वायुरूप हैं, जो निरन्तर प्राण शक्ति प्रदान कर रहा है। "इन्धि दीप्तौ" धातु से इन्ध शब्द बनता है, उसे ही परोक्ष शैली में इन्ध कहते हैं। शरीर गत प्राणाग्नि ही इन्ध है। वही बाहर विराट् रूप में सूर्य है। अग्नि, वायु, आदित्य तीनों को भूत, प्राण और मन कहा जाता है। 'प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा' यह इन्द्र की व्याख्या है, अर्थात् भौतिक केन्द्र में प्राण विद्युत् के साथ प्रज्ञा, संज्ञा या चेतना भी रहती है तो उसे इन्द्र कहते हैं और वहाँ इन्द्र की सत्ता जाननी चाहिए।

वाहर से केन्द्र में अन्न संभरण की संज्ञा यज्ञ है, वह विष्णु का रूप है, जिसे त्रिविक्रम कहा जाता है। वही त्रिविध विष्णु है। वही शरीर में और शरीर से वाहर विश्व में व्याप्त है। वह अपनी त्रिविक्रम शक्ति से वामन से विराट् बनता है।

यज्ञ के दो भेद हैं, आहिति और आहुति (२६६)। आहिति का अर्थ आधान है, उससे चिति होती है, अर्थात् एक वल के ऊपर दूसरा वल ठहरता है, जैसे भूतों की चिति से शरीर बनता है। आहुति का अर्थ सोम में अग्निका अन्न और अन्नाद भाव है, जैसे नित्य प्रति का खाया हुआ अन्न अग्नि द्वारा पचा लिया जाता है। इस यज्ञ विधि में अन्नाद शेप रहता है, अन्न नहीं। यज्ञ के विना मनुष्य की स्थिति नहीं है। उक्थ का स्वरूप वताते हुए कहा है कि एक ही विन्दु में ब्रह्मा, विष्णु, और इन्द्र तीनों अक्षर देवता निवास करते हैं। विन्दु की ही संज्ञा नाभि है (२७१)। विश्व को यदि अश्वत्थ कहा जाय तो उसके मूल में ब्रह्मा, मध्य में विष्णु और अग्र भाग में इन्द्र की कल्पना है, अर्थात् ये तीनों समवेत रहकर वृक्ष की कल्पना करते हैं। इन तीनों की एक संस्था बनती है। मस्तिष्क में इन्द्र और हृदय में विष्णु और नाभि में ब्रह्मा इसप्रकार इनका स्थान भेद माना जाता है, किन्तु वस्तुतः ये एक ही शक्ति के भेद हैं। वस्तुतः स्थिति या प्रतिष्ठा ब्रह्मा है, गति तत्त्व इन्द्र है और आगति तत्त्व विष्णु है (२७६)। उक्थ के तीन प्रकार हैं। ब्रह्मा के शरीर में ब्रह्मा के वल से वर्चस् और यश, तेज और ओज एवं विष्णु वल से भ्राज् और श्री, इन तीनों को आत्मा, अर्क और सौन्दर्य कहा जाता है।

इस शरीर में ब्रह्म के अङ्गभूत ८ देवता निवास करते हैं—इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम, रुद्र, सोम वायु, निर्ऋति। स्वयं उद्भूत होनेवाला जो बृंहण भाव है वह ब्रह्म है। इसी पर विधृत अनेक व्यक्त भाव सृष्टिक्रमके अनुसार जन्म लेते हैं। विष्णु वाहर से किसी आध्यात्मिक भाव को लाकर केन्द्र में प्रसुप्त इन्द्र शक्ति को उद्बोधित करता है (२८२)। इन्द्र एक प्रकार की विद्युत् है जो ब्रह्म के ऊपर कहे हुए अंगों को नोदित या प्रेरित करता है। वे आठों रस मन के ही अंग है। वे आठों प्रकार के वल मन के ही अंग हैं। इन्द्र से वीर, वरुण से करुण, अग्नि से हास्य, वायु से भय, निर्ऋति से वीभत्स आदि उत्पन्न होते हैं (२८५)।

वड़े में प्रेम को श्रद्धा कहते हैं, समानवालों के साथ स्नेह भाव होता है, अपने से छोटे के प्रति वात्सल्य, जड़ पदार्थों में उसे काम कहते हैं और स्त्री में प्रेम या रति कहते हैं, ये पाँच प्रकार के प्रेम हैं। ब्रह्मारूप विद्युत् जिस रस को नोदित करता है, वही पृथक्-पृथक् भाव में आकर प्रज्ञात्मक प्राण या इन्द्र का

रूप ग्रहण करता है। मन में जो प्रज्ञा भात्र है, वही इन्द्र है (२८७)।

अग्नि और सोम का निर्वचन इस प्रकार है – ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु ये तीन केन्द्रस्थ अक्षर देवता अग्नि और सोम के रूप में परिवर्त्तित होते हैं। तीन अग्नियों के बीच में उनको मिलानेवाली दो सोम की संधियाँ हैं, जैसे स्वयंभू और सूर्य के बीच में परमेष्ठी सोम है एवं सूर्य और पृथ्वी या भूतानि के बीच में चान्द्र सोम है। नाभि या केन्द्र से फैलनेवाला बल अग्नि है और उसे ही संकुचित करनेवाला सोम। विकास की संज्ञा अग्नि और संकोच की संज्ञा सोम है। विरलता का कारण अग्नि और सान्द्रता का कारण सोम है (२९०)। सोम से मूर्छित अग्नि चिति कहलाती है, वह मर्त्य या भूभाग होता है। उसमें जो अमृत प्राणग्नि आती है उसे चिते निधेः कहते हैं। अग्निप्राण जिस सोम को जन्म देता है, उसमें दाह नहीं होता, क्योंकि वह अग्नि या रश्मियों को प्रतिफलित कर देता है। अत्रि प्राण के अभाव में काँच पारदर्शक हो जाता है (२९३)। जहाँ सोम कम और अग्नि अधिक होता है वहाँ अग्नि सोम को खाने लगता है। वाग्देव और मर्त्यवाक् भूत है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतएव वाक् ही सब कुछ है, यह कहा गया है।

अग्नि के दो भेद हैं—उक्थ और अर्क। अर्करूप अग्नि मर्त्य और अमृत दो प्रकार की होती है। भूः, भुवः, स्वः, मर्त्य और ऋग्, यजु, साम ये तीन अमृत, अर्क कहे जाते हैं (३१०)। यजुरूप अग्नि में सोम की आहुति होती है। यजु के ही चारों ओर ऋक् और साम का वितान होता है। यजु केन्द्र ऋक् विष्कम्भ और साम मण्डल कहा जाता है। जो देदीप्यमान होता हुआ या अपनी कलाओं का विस्तार करता हुआ फैलता है उसे ही अर्क कहते हैं, उसे ही ऋक् और सोम कहते हैं। सरल शब्दों में वह केन्द्र का वितान है। वह भूत और प्राण दो रूपों में चलता है।

इसके अनन्तर ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु इन तीन प्रकार की चेतनाओं का वर्णन किया गया है। इन्हीं तीनों के नामान्तर गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती एवं आहवनीय, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य आदि कहे जाते हैं (३२५)। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ ये तीन लोक ही तीन अग्नियों के रूप हैं। वसु, रुद्र, आदित्य ये देव इन्हीं अग्नियों के रूप हैं। आहवनीय नामक मर्त्य अग्निके आधार पर वसु, रुद्र, आदित्य, इन्द्र निवास करते हैं, दक्षिणाग्नि के आधार पर पितर निवास करते हैं और गार्हपत्य अग्नि के आधार पर पशु और मनुष्य निवास करते हैं।

अशिति या सोम तीन प्रकार का है—दिक् सोम, पवमान सोम और चन्द्र सोम। जो उक्थ या केन्द्रस्थ अग्नि अपने अंश को बाहर फेंक आती है

वही दिक् सोम है (३२९)। केन्द्र से उत्थित होकर जो मन परात्पर या बहिः मण्डल की ओर जाता है वह वहाँ से सोम के रूप में केन्द्र की ओर लौटता है। उसे परात्पर सोम कहते हैं। दिक् सोम इस भूयिष्ठ या अन्य पिण्डों के चारों ओर व्याप्त रहता है, उससे अग्नि का तेज क्षीण होता है (३३१)।

प्रत्येक शरीर में अर्क के चतुर्दिक्, जो भौतिक पदार्थ भरा जाता है वही पवमान सोम है। जिस प्रकार पृथ्वी के चारोंओर सोम भरा हुआ है वैसे ही सूर्य के चारों ओर ब्रह्मणस्पति सोम है। प्रति शरीर या पिण्ड के उक्थ या अर्थका जो पर्यवसान है उसके चारोंओर सोम का मण्डल या समुद्र भरा रहता है। उसे ही ब्रह्मणस्पति सोम कहते हैं, जैसा ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में आया है—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्य्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥ ३३७ ॥

ऋ० ९-८३-१

मन का जो क्षय होता है वह इसी ब्रह्मणस्पति सोम से पूर्ण किया जाता है। तपके विना यह पवित्र सोम छन कर मन में नहीं आता। इन्द्र संज्ञक विद्युत् देह से नित्य उत्क्रान्त होती रहती है तथा वह तप के द्वारा ही शरीर में आती है। इसके अनन्तर उक्थ और अर्क इन दो परिभाषाओं की अनेक प्रकार से व्याख्या की गयी है। सृष्टि के अनेक द्वन्द्वों को इन दो तत्वों के अनुरूप बताया गया है। उदाहरण के लिए ब्रह्म उक्थ, अन्न, अर्क है। उक्थ से अर्क की ओर जो तत्त्व की गति होती है एवं जो अनेक से एक की ओर तत्त्व की आगति है उसे प्रहिता-संयोग कहते हैं। उक्थसे अर्क की ओर गति और अर्क से उक्थ की ओर आगति से प्रतिकेन्द्र में स्पन्दन का स्वरूप बन रहा है। उक्थ से अक्षर और अर्क से क्षर का स्वरूप बनता है। मन, प्राण, वाक् में जो कुछ है वह सदा उत्क्रान्त होता रहता है, उसे ही उसका विस्रस्त स्वभाव कहते हैं और वही विस्रस्त भाव पुनः संधानभाव में आता रहता है। इस प्रकार विस्रंसन और संधान इन दोनों के मिलने से, अर्थात् शक्ति के क्षय और संचय से एक चक्र बनता रहता है। स्थिर और चल दोनों को ही मात्रा तारतम्य से गतिशील, स्थितिशील कहा जा सकता है। ऐसे ही विस्रंसन और पूरण भी मात्रा भेद से एक दूसरेमें परिवर्तित होते हैं। मन और हृदय जो परात्पर का रूप कहा गया है उसी का वितान विभूति या विक्रम उसके अर्क हैं। वही विराट् प्रजापति है। उक्थ ही अर्क यज्ञ है जो वेदों के द्वारा विराज् रूप ग्रहण करता है (४५३)। आथर्वणिक सूक्त के अनुसार बिन्दु नाद का बीज है (४५६)। बिन्दु के चारों ओर जो गोल

मण्डल बनता है वह नाद का रूप है। बिन्दु, उक्थ और नाद को अर्क समझना चाहिए। बिन्दु को नाभि और नाद को प्रधि के संतुल्य समझना चाहिए। नाभि से प्रधि तक परिणाह या व्यास का विस्तार होता है (४५९)। आथर्वणिकोंके अनुसार ऋक्, यजु, साम के द्वारा ही केन्द्र और परिधि, बिन्दु और मण्डल का रूप धारण करते हैं। ऋक् से गति, यजुः से केन्द्र और साम से परिधि का रूप बनता है। नाभि को महती मूर्ति या महोक्थ भी कहा जाता है। उसी से समस्त अर्क या नाना प्रकार की मूर्त्तियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रजापति या नभ्य संभृत बिन्दु निरन्तर रिक्त होता रहता है। यज्ञके द्वारा उसकी पूर्ति या संभरण किया जाता है। रिक्त बिन्दु और संभृत बिन्दु इन दोनों का तारतम्य ही यज्ञ है (४९०)।

वेद-संस्था विचार के अन्तर्गत कहा गया है कि वेद ही विश्व का मूल है और वेद से ही सब पदार्थों का स्वरूप बनता है। वेद के दो मौलिक तत्त्व हैं एक अग्नि दूसरा सोम। अग्नि-वेद को ब्रह्म और सोम-वेद को सुब्रह्म कहते हैं। ऋक्, यजुः, साम ये तीन वेद तीन प्रकार की अग्नियाँ हैं, सोम सुब्रह्म या और जल अथर्व का स्वरूप है। प्रजापति के तप से त्रयी वेद और उनके स्वेद और सोम भाग से अथर्व का जन्म होता है। यह विद्या गोपथ ब्राह्मण के आरम्भ में कही गयी है। वेद तत्त्व के तीन अर्थ हैं – (१) ज्ञान (विदन्ति) (२) उपलब्धि (विन्दन्ति) (३) सत्ता (विद्यते) (५००)। अग्नि और सोम भेद से वेद दो प्रकार के हैं। ऋक्, यजु, साम का सम्बन्ध अग्नि से और अथर्व का सम्बन्ध सोम से है। ऋक्, यजु, साम के समकक्ष, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ हैं। जिसे 'आपो वै चतुर्थो लोकः' कहा जाता है, वह सोम या अथर्व का रूप है। उसे चन्द्रमा भी कहा जाता है। तीन वेद को सूर्य और चौथे को चन्द्रमा भी कहा जाता है (५०१)। माया बल से सीमित किया जानेवाला यही वेद तत्त्व है। विना माया या सीमा के किसी वस्तु का स्वरूप अस्तित्व में नहीं आता (५०३)। इन दो वेदों का (यानी अग्नि और सोम का) हृदयस्थ प्रजापति नामक कोई तत्त्व है। इसे ही पुराण की भाषा में कहा जाता है कि विष्णु के नाभिकमल पर ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं, जिन्होंने अपने चार मुखों से चार वेदों को प्रतिष्ठित किया है।

ब्रह्म, वेद और विद्या ये तीन शब्द पर्यायवाची हैं। वेद अनन्त हैं और संसार एक है, अर्थात् विश्व के जितने पदार्थ हैं उनका अपना-अपना वेद या अग्निषोमात्मक संस्थान है (५०६)। यह जो दृश्य विश्व है वह प्रतिष्ठाकी दृष्टि से ब्रह्म कहा जाता है, और ज्ञान की दृष्टि से इसे ही विद्या कहते हैं। इसका जो

एक अव्याकृत रूप था वह त्रिधा उन्मुक्त और त्रिधा विकसित होने से मन, प्राण, वाक् कहा जाता है (५१०)।

माया से सीमित प्रत्येक पदार्थ के तीन भेद हो जाते हैं (५१४)। एक नाभि या हृदय, दूसरा परिसर, परिधि या मण्डल और तीसरा उन दोनों के बीच का भाग (५१४)। उक्थ या हृदय अणोरणीय अर्क और परिप्लव महतो महीयान् कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ की आत्मा उसके गुहा या केन्द्र में रहती है। उसी के दो रूप हो जाते हैं। नाभि या हृदय भाग ही परिप्लव या परिसर रूप में चारों ओर भर जाता है। आत्मा के ही तरंगित वीचिमय रूप को परिप्लव कहते हैं। परिप्लव स्तोम ही परान्त या परिधि भाव में पहुँच पृष्ठ स्तोम बन जाते हैं। पृष्ठ को ही परावत कहते हैं (५१६)। ऋक् और साम एक साथ जिसमें निवास करते हैं वह यजुस् तत्त्व है, वही तो केन्द्र से परिधि तक फैल कर पदार्थ में भर जाता है। वही ध्रुव भाग यजुस् कहा जाता है, उसी से यज्ञ का स्वरूप बनता है (५१७)।

ऋक्, यजुस्, सोम ये तीन वेद ही वाक् प्राण और मनस् के रूप हैं (५१८)। इन्हीं से प्रत्येक पुरुष का स्वरूप बना है। नाभि, हृदय या केन्द्र में जो मूर्ति रहती है वही क्रमशः विकसित होती हुई परिधि तक जाती है। उस मूर्ति के निर्माण में क्रमशः उत्तरोत्तर विष्कम्भ या व्यास की वृद्धि होती है (५२०)। वस्तु के रूप निर्माण या पदार्थ के संनिवेश में विष्कम्भ के प्रत्येक बिन्दु पर एक मण्डल बनता है। उनके व्यास और मण्डल को ही ऋक्, साम कहते हैं, ये ही इन्द्र के दो घोड़े कहे जाते हैं (ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी)। यजुस् स्थाणु और ऋक्, साम चरिष्णु कहे जाते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि केन्द्र में स्थित ब्रह्म, इन्द्र और विष्णु ये तीन अक्षर देवता पारस्परिक सन्तुलन और संघर्ष से प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप का निर्माण करने के लिए तीन साहस्रियों का निर्माण करते हैं—(१) वेद-साहस्री या मन की अनन्तता (२) लोक-साहस्री या प्राण की अनन्तता (३) वाक्साहस्री या भूतों की अनन्तता। प्रत्येक प्राणी इन साहस्रियों के मिलने से बना है। ये तीन देवता एवं अग्नि और सोम मिलकर पंच देवता कहलाते हैं। इन्हीं में प्रत्येक पुरुष का स्वरूप संनिविष्ट है।

प्रत्येक पदार्थ में उसके उक्थ या औक्थिक भाव से शक्ति का उद्भव होता है। उसके आत्मभाव में इन्द्र और विष्णु की द्वन्द्वात्मक सृष्टि याजुस् भाव से होती है। व्यक्त शरीर या पिण्ड निर्माण विराज् भाव से होता है और वैतानिक शक्ति

से महिमा भाव (५४२)।

व्यक्तिमें तीन देवताओं के निवास के ये चिह्न हैं—ब्रह्मा का अधिक अंश होने से उपदेष्टा, इन्द्र का अधिक होने से ऐश्वर्ययुक्त स्वामी और विष्णु का अधिक अंश होने से अन्नप्रदाता या श्रीसम्पन्न होता है (५५२-५४)। ऐसा व्यक्ति जिस देश या दिशा में जाता है वहीं विष्णु रक्षा करते हैं। प्रत्येक के आत्मा में ये तीन देवता कम या अधिक रहते ही हैं। इस जीव में मन की मात्रा और ईश्वर की सत्ता उसी हिसाब से विद्यमान देखी जाती है।

याजुष विवर्त्त को इस प्रकार समझना चाहिए—उसमें यत् और जू ये दो अंश रहते हैं। वायु की संज्ञा यत् और आकाश की संज्ञा जू है। गति का संकेत यत् और वायु है। स्थिति का संकेत आकाश या जू है। यत् और जू का सम्मिलित संकेत गति और स्थिति है। गति सर्वदा दो प्रकार की होती है—एक केन्द्र से परिधि की ओर जाने वाली गति, दूसरी परिधि से केन्द्र को जाने वाली आगति है। गति को इन्द्र और आगति को विष्णु, गति को अग्नि और आगति को सोम कहा जाता है। अन्नाद, अन्न और आवपन इन तीनों की संज्ञा उक्थ, अर्क और अशिति है (५६७)।

शरीर में रस की अपचिति या ह्रास से बुभुक्षा या अशिति का अनुभव होता है। उसी में रस के संचय से तृप्ति या यज्ञ की आहुति क्रिया देखी जाती है (५६८)। शरीर में रस के अपचय और उपचय का क्रम नित्य ही चलता रहता है। पहले मनुष्य अन्न खाता है, इसके बाद अन्न से प्राण बनता है यही जीवन यज्ञ की विधि है (५७०)। उसी क्रम में अन्न से रेत या प्राण से रेत की सृष्टि होती है और रेत से पुरुष का जन्म होता है। इस प्रकार अन्न और अन्नाद का यज्ञक्रम चल रहा है। जब तक किसी पत्ते को रस प्राप्त होता है, वह हरा बना रहता है। पर रस या अशिति के अभाव में वह सूख जाता है। यही जीवन का क्रम है (५७५)। यही नियम उच्छिष्ट या प्रवर्ग्य तत्त्व में देखा जाता है (५७४)। जो अन्न खाया जाता है उसी का एक भाग प्राण बन जाता है और उसी का कुछ दूसरा भाग उच्छिष्ट या प्रवर्ग्य के रूप में शरीर से बाहर फेंक दिया जाता है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति का आत्म केन्द्र शरीर रूप उच्छिष्ट का निर्माण करता है उसी प्रकार ब्रह्म का उच्छिष्ट यह विश्व है। अथर्व के उच्छिष्ट-सूक्त का यही भाव है।

सृष्टि के मूल विवर्त्त के अन्तर्गत एक वैराज विवर्त्त है। उस वैराज को ही अर्द्धेन्द्र या भग भी कहा जाता है। सहस्रशीर्षा पुरुष अनन्त पुरुष उसी वैराज या

विश्व की महिमा है। महिमा भाव को विराज कहा जाता है। सहस्रशीर्षापुरुष स्वयम्भू और विराट् पुरुष परमेष्ठी हैं। स्वयम्भू पिता और परमेष्ठी मातृतत्त्व है। दोनों के संयोग से जो पुरुष उत्पन्न होता है, उसे वैराज पुरुष कहते हैं (ततो विराडजायत, विराज वै पुरुषः)। उसी की संज्ञा "वैराज विवर्त्ते मनोरद्धेंन्द्रत्वम्" है। एक इन्द्र सात अन्य प्राणों के साथ भौतिक केन्द्र में आता है। उसके ये दो भाग सूर्य विराट् और अग्नि विराट् कहे जाते हैं। एक प्राणमय है और दूसरा भूतमय है। जो भूतभाग है उसी में मैथुनी सृष्टि होती है। इसी को अर्द्धेन्द्र भाग कहा जाता है। यही मनु सृष्टि है (५८७)। इन्द्र का पूर्ण स्वरूप वर्त्तुल है। उस पूर्णेन्द्र वर्त्तुल या विराज रूप के ही दो शकल या खण्ड माने गये हैं। उस वर्त्तुल विराज के ही दो खण्ड स्त्री और पुरुष हैं। इनमें से प्रत्येक को अर्ध बृगल कहा जाता है। इन दो भागों के मिलने से ही इन्द्र या प्रजापति या मध्यप्राण का स्वरूप पूर्ण होता है (५९२)।

इसके अनन्तर तीसरा अव्ययानुवाक ६२०-८७३ श्लोकों में है। इस संसार में ब्रह्म, क्षत्र और विराट् ये तीन प्रकार के वीर्य हैं (६२०)। एक से मनस् दूसरे से प्राण और तीसरे से वाक् या भूतों का जन्म होता है। इन्हीं तीनों से विश्व का विस्तार होता है। ब्रह्मबल से ज्ञान, विज्ञान, वेद, यज्ञादि, धर्म, वायु, व्योम, उक्थ का जन्म होता है। क्षत्र बल से राष्ट्र, ईश्वरत्व, प्रभुत्व, संभोक्तृत्व, शासकत्व और वशित्व आदि की उत्पत्ति होती है (६२२)। विड्बल से इट्, अर्क, पशु, क्षेत्र, सम्पद्भोग, अन्न, श्री आदि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के वीर्य या पौरुषों से यह समस्त विश्व व्याप्त हो जाता है (६२३)। इन्हीं तीन बलों के तीन कोश हैं—मनोमय कोश, प्राणमय कोश और वाङ्मय कोश है। बल को घेर कर जो रस तत्त्व रहता है वही मन है। जब बल रस को अपने गण में ले लेता है, तो वह प्राण होता है और जब ग्रन्थि कटती है तब उससे वाक् या भूतों का जन्म होता है (६२५)। अमृत और अविशेष रस में तीन विशेष मृत्यु बलों के प्रविष्ट होने से तीन विशेष भाव जन्म लेते हैं उन्हीं की समष्टि आत्मा है, जैसा कहा है—

एतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः

शा० ब्रा० १४।४।३।१०

जो शान्त, निष्कल, परात्पर तत्त्व था वही इन तीन बलों या पुरुषों की सृष्टि करके प्रविष्ट होता है। मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय पुरुष को त्रिधातु कहा जाता है। ब्रह्मबल मन में, क्षत्र बल प्राण में, और विड्बल वाक् रूप में प्रकट

होता है (६२८)। ये तीन बल इन तीन कोशों में रहते हैं। आनन्द, विज्ञान और मन ये आभ्यन्तर, अग्र्य और उत्तम कोश हैं। इनकी आभ्यन्तर छाया मनस्, वाक्, प्राण कोशों में अवतरित होती है (६३०)।

इस प्रकार पुरुष की रचना में तीन कोश माने जाते हैं। अथवा इसे पञ्च-कोशात्मक रूप कहते हैं जिनमें मन उभयात्मक है। मनस् के एक ओर प्राणमय, और वाङ्मय कोश हैं और दूसरी ओर विज्ञानमय और आनन्दमय कोश हैं (६३६)। जो एक अव्यय प्रजापति है वही तीन बलों से समुदीर्ण प्रत्येक संस्था के केन्द्र में प्रकट हो रहा है (६४०)।

अव्याकृत पुरुष के व्यक्त भाव में आने पर अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन पुरुषों का जन्म होता है (६४२)। इन तीन पुरुषों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। रूप, रस, उत्तरोत्तर बलों के द्वारा अक्षर, क्षर रूप में प्रकट होते हैं। जो हम मन से सोचते हैं वैसी ही क्रिया होती है, तदनुसार रूप वनता है (६४३)। जो सृष्टि होती है, वही अक्षर का विकार है। आवाप या आलम्बन अव्यय है। निमित्त अक्षर है, उपादान क्षर है। अव्यय को अधिष्ठान, अक्षर को ग्रहण और क्षर को आरम्भण कहा जाता है। अव्यय, अक्षर और क्षरके समूह को भी शरीर कहते हैं। प्रत्येक अव्यय में अक्षर और प्रत्येक अक्षर में क्षर और प्रत्येक क्षर में क्षणिक तुष्टि रहती है, तथापि तीनोंका सहयोग रूप शरीर वनता ही है (६४६)। इन तीनों में ही आनन्द, विज्ञान, मनस्, प्राण और अन्न ये पाँचों रस विद्यमान रहते हैं, जो अपने-अपने तारतम्य से शुद्ध और मलीन होते हैं (६४८)। ये तीनों दो प्रकार के हैं—महान् या बड़े और दहर या छोटे। बड़े शुद्ध और छोटे मलीन होते हैं। महान् अव्यय, महान् अक्षर और महाभूत इनकी सत्ता विराट् में है और ये भी व्यक्ति केन्द्र में दहर अव्यय, दहर अक्षर और दहर भूतके रूप में रहते हैं (६५०)। अक्षर और अव्यय अव्यक्त हैं, और समस्त व्यक्ति, अदृष्ट पदार्थ क्षर हैं (६५२)। अव्यय को पर, अक्षर को परावर, और क्षर को अवर भी कहते हैं। यह परावर विद्या ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त के १७,१८,१९वें मन्त्र में आयी है। संसार अवर है, ब्रह्म पर है, और उन दोनों को मिलाने वाला सेतु परावर है। अव्यय की संज्ञा उत्तम, परावर की मध्यम और क्षर की संज्ञा अवम है (६५४)। ये तीनों पुरुष प्रत्येक में भीतर-बाहर अनुस्यूत रहते हैं।

रस अमृत और बल मृत्यु है और मृत्यु उस अमृत के गर्भ में रखी हुई है (तयोर्वाऽएतयोर् उभयोरेतस्य चार्चिष एतस्य च पुरुषस्यैतन्मण्डलं प्रतिष्ठा

तस्मान्महदुक्थं परस्मै न शंसेन्नेदेतां प्रतिष्ठां छिनदाऽइत्येतां हस प्रतिष्ठां छिन्ते····
यो मह भूयिष्ठ परिचक्षते प्रतिष्ठा छिन्नो हि भवतीत्यधिदेवतम् श० ब्रा०;१०।५।२-
४।५ । रस विभु और अणु होता है । बल को हम अनेक खण्डों में बँटा हुआ
पाते हैं (६५९) । रस में क्रिया नहीं होती । बल क्रिया रूप ही है । रस-चित्
रूप नाभि या केन्द्र के चारों ओर बलोंका वितान होता है । जैसे सूर्य या चन्द्र
के चारों ओर पारस या कुण्डल देखते हैं वैसे ही चित् के चारोंओर चेतना
का वितान देखा जाता है (६६६) ।

नाभि या केन्द्र में जो चित् तत्त्व है उसे मनु कहते हैं । वह केन्द्रस्थ मनु
ऋक् यजुस्, साम इन त्रिविध मन्त्रों का वितान करता है । उसी मनुकेन्द्रसे
प्राण-सृष्टि होती है (६७०) । मनुस्मृति में इसका वर्णन आता है (६६७)—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ।। १२।१२२ ।।
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ।। १२।१२३ ।।

वह मनु समस्त चेतना का केन्द्र है । उसे ही इन्द्र, अग्नि, प्राण, हिरण्यमय
पुरुष, प्रजापति अथवा शाश्वत ब्रह्म कहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर
इस प्रकार का एक सूक्ष्म केन्द्र है, जिसके कारण वह मानव कहा जाता है।
मनु की अशनाया या इच्छा से ही इन अनेक प्रकार के शरीरोंका निर्माण हो रहा
है (६७६) । हाथी से चींटी तक सब शरीर मनु तत्त्व के विचित्र इच्छाओं
के अधीन हैं । अव्यय मन के भेद से अक्षर प्राण और क्षर शरीर भी भिन्न-भिन्न
हो जाते हैं । इसी कारण यहाँ भिन्न-भिन्न जीव देखे जाते हैं (६७८) । अव्यय
अव्यक्त है, उसके धरातल पर अक्षर के प्रभाव और क्षर की सृष्टि से नाना विध
जीव जन्म लेते हैं । यह क्षरप्रपञ्च सब अव्यय में जाते हैं (६७९) । समस्त
कार्य अर्थ, ज्ञान और क्रिया भेद से तीन प्रकार के हैं । उनके मूल प्राण, वाक्
और मन हैं (७१९) । इन्हीं के दो भेद मूल और तूल है । विकारी को तूल
और अविकृत को मूल कहते हैं (७२०) ।

नाम, रूप और कर्म इन तीन बलों की समष्टि को अभ्व कहते हैं । इनके
केन्द्र में रहने वाला रस आभु कहलाता है (७४५) । वाक् या भूतों का धर्म
भार है । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन भूतों में भार सखण्डता और
बल रहता है । मन भी बल के प्रयोग से सखण्ड बन जाता है (७५८) । प्रत्येक
पुरुष मन, प्राण, वाक् इन तीन धातुओं का रूप है । प्राण को सत्य और मन को

त्रिसत्य कहा जाता है। नाभि रूप मन के आकाश में जो वाक् का वेष्टन किया जाता है उससे ही ऋक्, यजु, साम ये तीन वेद बने हैं। नाभिस्थ अग्नि परावत सोम या दूरतम परिधि तक जाकर पुनः केन्द्र की ओर लौटती है (८०५)। वेद, यज्ञ और प्रजा ये प्रजापति के तीन भेद हैं। वेद मन, यज्ञ प्राण और प्रजा भूतों के समकक्ष हैं। जीव, ईश्वर और परमेश्वर ये प्रजापति की ही विभूति हैं। अव्यय, अक्षर और क्षर उसी की विभूति हैं (८१६)।

प्रजापति के दो भेद हैं—पहला अनिरुक्त, जो अन्तःप्रविष्ट है और दूसरा निरुक्त जो बाह्य महिमा भाव है (८१९)। अन्तःप्रविष्ट को ही नभ्य प्रजापति कहते हैं और बाह्य को महिमा प्रजापति कहा जाता है। अथवा दूसरे दृष्टिकोण से प्रजापति के चार स्वरूप हैं। एक आत्मा प्रजापति, दूसरा महिमा प्रजापति इसके तीन भेद हैं, जिन्हें तीन त्रिपुरुष कहा जाता है। एक अव्यय पुरुष, दूसरा अक्षर पुरुष, तीसरा क्षर पुरुष। पहले को अमूर्त और दूसरे तीनों को मूर्त प्रजापति कहा जाता है (८६२)। इन्हें ही अनिरुक्त और निरुक्त, अपरिमित और परिमित संज्ञाएँ भी दी गयी हैं। मूर्त्त प्रजापति के जो तीन रूप हैं उन्हीं के नामान्तर इस प्रकार हैं—(१) त्रिपुरुष प्रजापति, (२) वेद-यज्ञ प्रजापति, (३) प्रजा पशु (८३३)। वेद पात्र है और उसमें भरा हुआ जीवन यज्ञ है। प्रजा समृद्धि भाव है और उसके अन्तर्गत आया हुआ वित्त पशु है (८६४)। ये तीनों प्रजापति समानायतन, अर्थात् एक ही स्थान में रहते हैं (८६५)। अव्यय के विना अक्षर नहीं रहता एवं अव्यय और अक्षर के विना क्षर की सत्ता नहीं रह सकती। भूतों की संज्ञा क्षर है और देवता, वेद, यज्ञ और ऋषि इनकी संज्ञा अक्षर है। छन्द के वितान में भरा हुआ रस अव्यय का स्वरूप होता है।

■

अक्षरानुवाक

इस चौथे अनुवाक में अक्षर की व्याख्या की गयी है। जैसा पहले कहा जा चुका है, कि मुख्यतः प्राण की संज्ञा अक्षर है। ब्रह्म के दो स्वरूप हैं, एक पर और दूसरा अवर। इनके बीच के परावर स्वरूप को अव्यय कहते हैं। पर अमृत और अवर मृत्यु है किन्तु परावर में अमृत और मृत्यु दोनों मिले रहते हैं। रजस् तत्त्व की संज्ञा अक्षर है। मन, प्राण, वाक् उसी के रूप हैं। किन्तु इनका जो अविचलित और अविकारी भाव है उसे परोरजस् कहा जाता है, अर्थात् वह अक्षर, रजस् या गति की परिधि में है। अक्षर में जो निगूढ़ कर्म होते हैं वे क्षर में प्रकट होते हैं। उन्हीं से तीन पुरों का निर्माण होता है। मन, प्राण, वाक् के साथ कर्म का संयोग होने से तीन पुर बनते हैं। वाक् की संज्ञा खं, मन की संज्ञा रं और प्राण की संज्ञा कं है। ये तीन पुरुषों के सांकेतिक नाम हैं (४७)। खं भी तीन प्रकार का है (१) ओम खं, (२) पुराण खं, (३) वायु खं। ओं खं में तीन वेद, पुराण खं में तीन लोक और जहाँ वायु अन्तरिक्ष में विलीन रहता है उस शून्य प्रदेश को वायु खं कहते हैं (५२)। प्रत्येक केन्द्र में जो अन्तर्यामी आत्मा है, वही अक्षर है। उसके प्रशासन में सूर्य, चन्द्र, वायु और समस्त भूत रहते हैं। वही सबको नियमित और व्यवस्थित रखता है (८४)। वही एक ऐसी शक्ति है जिसके भय से अग्नि और सूर्य तपते हैं। इन्द्र, वायु और मृत्यु सब पर उसका अंकुश है। इस अनुवाक में आगे विज्ञान और प्रज्ञान की व्याख्या की गयी है। जो स्वतः प्रकाश तत्त्व है, वह विज्ञान और जो परतः प्रकाश तत्त्व है उसे प्रज्ञान कहते हैं। वस्तुतः ये दोनों मन के ही रूप हैं और मन के बिना यहाँ अन्य कुछ नहीं है। उसी का प्रकाश प्राण और भूतों में आता है। प्रज्ञा ही अनेक रूपों में प्रकट होती है। ये सब मन के व्यापार हैं। वही प्राण व्यापार और भूत व्यापार को नियन्त्रित करनेवाली शक्ति है। प्रज्ञा ही प्रज्ञान या मन है। ये सब शब्द उसी के भेद हैं—

काम, संकल्प, संशय, त्रपा, मति, धृति, श्रद्धा, प्रज्ञान, विज्ञान, मन, मनीषा, जूति, स्मृति, संज्ञान, मेधा, काम आदि—

कामो थ संकल्प उतैष संशयस्त्रपामतिर्भीरसुर्धृतिस्तथा या।
श्रद्धा च सर्वं तदिदं मनो मतं वैज्ञानिके वृत्तिमतीह संभवात् ॥

प्रज्ञानविज्ञानमनोमनीषा जूतिः स्मृतिर्दृष्टिरसुर्धृतिर्धीः ।
संज्ञानसंकल्पमतिक्रतुज्ञा मेधावशः काम इमे समर्थाः ॥१३९॥

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति ॥ सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति, ऐतरेय उ० ३.२

वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ ये तीन आत्माएँ या अग्नियाँ क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण के भेद हैं। इस विद्या का विवेचन माण्डूक्य उपनिषद् में विस्तार से आया है। इन्हें ही प्रज्ञा-त्रयी कहा जाता है (१६०), अर्थात् भौमी प्रज्ञा, चान्द्रीप्रज्ञा, सौरी प्रज्ञा। इन्हीं तीन प्रज्ञाओं के नामान्तर जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति हैं, जिनकी अति विस्तृत व्याख्या लेखक ने इस अनुवाक में किया है। पुरीतत् संज्ञक सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियों का विवेचन अत्यन्त हृदयग्राही है (२१२)। जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति ये ही तीन पुरियाँ हैं। इनका वितान जिन नाड़ियों की शक्ति से होता है उन्हें बहत्तर सहस्र सीता नामक नाड़ी कहा जाता है। उन सबका पर्यवसान एक पुरीतत् नामक नाड़ी में होता है। वही हृदय अव्यक्त चेतना केन्द्र से निकलने वाली एक नाड़ी है, उसीमें पुरुष निवास करता है। "अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते", बृहदारण्यक उपनिषद्, २।१।१९। वह बहत्तर सहस्र संख्या का भी हेतु है। मन, प्राण, वाक् की तीन साहस्रियों या अनन्तताओं से पुरुष बना है। अनन्त की संज्ञा सहस्र है। अतएव प्रत्येक में चौबीस सहस्र नाड़ियों या चेतना के प्रवाह के स्रोत हुए। यह संख्या शल्य-क्रिया द्वारा प्राप्त गणना पर निर्भर नहीं है किन्तु चौबीस अक्षरोंवाली सहस्र गुणित गायत्री पर निर्भर है, क्योंकि गायत्री ही प्राण या चेतना का स्वरूप है। वही इन तीनों अवस्थाओं में समस्त संस्कारों को ग्रहण करनेवाली एकमात्र विज्ञान शक्ति है। समस्त प्राण विज्ञान के वशवर्त्ती हैं। इसके अनन्तर देवयान और पितृयान की विस्तृत व्याख्या की गयी है।

ग्रन्थकार ने निर्विशेष का एक गद्यमय निरूपण भी लिखा था, जो इस पुस्तक के अन्त में पृष्ठ १४३ से १५६ तक मुद्रित किया गया है। सम्भवतः उनकी इच्छा इसी प्रकार से गद्यमय अक्षर, क्षर अनुवाक् लिखने की भी थी किन्तु उनके क्रोड़-पत्रों में वे अंश प्राप्त नहीं हुए। ब्रह्मविज्ञान सम्बन्धी यह विवेचना अत्यन्त मार्मिक है। इसमें अनेक वैदिक परिभाषाओं की व्याख्या स्फुट रूप में प्राप्त है। पं० मधुसूदन जी इस युग के क्रान्तिकारी दार्शनिक थे। उनके वैदिक ग्रन्थों के समुद्धार का यह स्वल्प प्रयत्न है, जो

श्री लाला द्वारिका प्रसाद तिलखुवेवाले और उनकी पुण्यात्मा धर्मपत्नी श्रीमती जानकी देवी, जे १२।१६ बौलिया बाग, वाराणसी, के अनुदान से पूरा किया गया है। लाला द्वारिका प्रसाद जी अत्यन्त धार्मिक वृत्ति के मनुष्य हैं। वे अब तिलखुआ छोड़ अनेक वर्षों से काशी में निवास कर रहे हैं और इन्होंने पुण्य क्षेत्र वाराणसी में जो सम्पत्ति अर्जित की है उसको धर्मार्थ में प्रयुक्त करना चाहते हैं। वैदिक साहित्य में उनकी भक्ति है। मैं श्री लाला द्वारका प्रसाद जी का आभारी हूँ कि मेरा अनुरोध मानकर एक सहस्र रुपये का अनुदान ब्रह्मविनय के प्रकाशन के लिये दिया और पांचसौ रुपयें का अनुदान मेरे लिखे हुए अस्यवामीय ग्रन्थ के वितरण के लिए दिया। उन्होंने यह घोषणा मेरे चतुर्थ वैदिक ज्ञानसत्र के दीक्षान्त समारोह (१९ नवम्बर, १९६३) के अवसर पर की, जिसका सभापतित्व माननीय बाबू श्री प्रकाश जी कर रहे थे। अतः दानदाता की इच्छानुसार अस्यवामीय ग्रन्थ की प्रतियाँ देश-विदेश के विद्वानों और संस्थाओं को बाँट दी गयी हैं। और उसी दान के अन्तर्गत यह ब्रह्मविनय ग्रन्थ भी मुद्रित करवा के प्रकाशित किया जा रहा है। इसकी पाण्डुलिपि तैयार करने में श्री पं० प्रद्युम्न ओझा ने बहुत प्रयत्न किया है। उनकी सहायता के विना इसका प्रकाश में आना सम्भव नहीं था। महामहोपाध्याय श्रीगिरधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने, जब तक उनका शरीर स्वस्थ था, प्रेस कापी के अनेक स्थानों को शुद्ध करने में सहायता दी, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। हम पं० मध्वाचार्य मीमांसक, शास्त्राचार्य के आभारी हैं कि उन्होंने पुस्तक के प्रूफ को संशोधन करने में सहायता दी।

दानदाता की इच्छानुसार हमने इस मूल संस्कृत ग्रन्थ के बृहत् हिन्दी भावानुवाद को भी भूमिका रूप में समाविष्ट किया है। आशा है यह ग्रन्थ वैदिक विद्वानों की सदाशयता का पात्र बनेगा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वासुदेवशरण
८।७।६४

॥ ॐ तत्सत् ॥

* ब्रह्मविनयः *

निर्विशेषानुवाकः

प्रतिज्ञावाक्ये प्रस्तावना

यो निर्विशेषः स परात्परो भवन् निरञ्जनः सन्नुपसृष्ट ईक्षते ।
हित्वोपसर्गं स निरञ्जनो भवन् परात्परं शिष्यत एष वक्ष्यते ॥१॥
वैदिकविचारकाननकान्तारेऽस्मिन् प्रवेष्टुकामानाम् ।
सुखतः प्रवेशिकेयं लघ्वी पद्या विरच्यते श्रमतः ॥२॥
आलस्यजाज्ञानतमोझरेणातिवाहितं ब्राह्मणवेदतत्त्वम् ।
मनःसमुद्रे प्रतलावगाहादन्वेषितुं तत् क्रियते प्रयत्नः ॥३॥
विशालविज्ञानमिदं पुरा युगे मनीषिदेवर्षिवरैः प्रवर्तितम् ।
शाखाप्रशाखाभिरनेकभेदवत् कार्त्स्न्येन विज्ञातुमिदं न शक्यते ॥४॥
यथोदितं ब्राह्मणवेदशास्त्रे क्वचित्स्फुटं वा क्वचिदस्फुटं वा ।
सर्वं तमर्थं नवयुक्तियोगाद् विलक्षणं सम्प्रति लक्षयामि ॥५॥
यज्ञोऽथ विज्ञानमथेतिवृत्तं स्तुतिस्तदित्थं विषया विभक्ताः ।
वेदे चतुर्धा त इमे चतुर्भिर्ग्रन्थैः पृथक् कृत्य निरूपणीयाः ॥६॥
यज्ञास्तु याज्ञे मधुसूदने स्मृताः ख्यातिष्वथो पञ्चसु वृत्तमर्पितम् ।
स्तोत्राणि वक्ष्यामि परत्र साम्प्रतं तद् ब्रह्मविज्ञानमिह ब्रवीम्यहम् ॥७॥
यद्यप्यहं शास्त्रमनु स्वबुद्धिं सञ्चारयन्नेव विचारयामि ।
स्वबुद्धिमन्वेव तथापि शास्त्रं क्वचिन्नयामीति ममास्ति दोषः ॥८॥
न वा स दोषो मम कालदोषाच्छ्रुत्यर्थसिद्धान्तगतोपपत्तेः ।
लुप्ता निबन्धा इति गत्यभावान्न नः स यत्नोऽस्ति नितान्तगर्ह्यः ॥९॥
ग्रन्थास्तु लभ्यन्त इहाद्य वैदिका ये ये तथा तेषु च यान् लभामहे ।
विज्ञानबिन्दून् परितश्चितानिमान् संगृह्य तान् दर्शयितुं यतामहे ॥१०॥

वेदोक्तवादान् प्रतिपद्य तेषां समन्वयायैष कृतः प्रयत्नः ।
असाधु यत् तत्र स नः प्रसादो यत् साधु सर्वः स ऋषिप्रसादः ॥११॥
यथा तु यद् यावदिहोदितं मया निर्धारितं तत्त्वमिदं तथास्ति तत् ।
इति प्रतिज्ञा तु न मेऽस्ति केवलं विदां मतं देवयुगस्य दर्श्यते ॥१२॥
यद्यन्मतं देवयुगे यथायथं सर्वं तदत्रैव निरूपितं मया ।
इति प्रतिज्ञा तु न मेऽस्ति केवलं देवैः प्रदृष्टे पथि दृष्टिरर्प्यते ॥१३॥
आलोडिता यैः श्रमतो न वैदिकग्रन्था न यैरत्र समाहितं मनः ।
सिद्धिश्च दैव्यस्ति न येषु ते हठादर्हन्ति नोत्क्षेपयितुं कुतर्कतः ॥१४॥
व्याघाततो वा पुनरुक्तितो वाऽनृतत्त्वतो वा न न तत्प्रमाणम् ।
प्राग् गौतमेनात्र समाहितत्वादाक्षेप्य नोत्क्षेप्यमिदं मदुक्तम् ॥१५॥
विज्ञानदृष्ट्या च परीक्षया च प्रपद्य देवैरुदिताः पुरार्थाः ।
तेषां परीक्षामधुना त्वकृत्वा सिद्धान्तमात्रेण वदामि कांश्चित् ॥१६॥
मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य वर्य्या युक्तीः समस्ता अवधारयन्तु ।
क्षुण्णे तदित्थं पथि सञ्चरन्तो मार्गं परिष्कारमिमं नयन्तु ॥१७॥
यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातना यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने ।
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तयस्तद् ब्रह्मविज्ञानमिदं विमृश्यताम् ॥१८॥

१. ग्रन्थारम्भप्रतिज्ञा

यद् दृश्यते, तत्किमिदं, कदाऽभवत्, कियत्प्रमाणं च किमस्य कारणम् ।
इत्थं बुभुत्सा स्वत एव जायते, प्राचां मतं तत्र विशिष्य दर्श्यते ॥१९॥
प्रतनाः साध्याः देवा विप्रतिपन्नास्तु सृष्टिमूलेऽस्मिन् ।
सदसद्भ्यां विदुरेकेऽमृतमृत्युभ्यां परे विदुः सृष्टिम् ॥२०॥
अन्येऽहोरात्राभ्यामावरणादम्भसोऽथ रजसोऽन्ये ।
व्योम्नोऽपरतः केचिद् दैवादपरेऽभिमन्वते सृष्टिम् ॥२१॥
इत्थं विप्रतिपत्त्या संशयमातन्वते त्वन्ये ।
परितोषो न परस्परविरुद्धवादेषु जायते तेषाम् ॥२२॥
अथ परमेष्ठी ब्रह्मा प्रजापतिस्तान् विरुद्धमतवादान् ।
प्रत्यालोचयमानः प्रत्याचष्टे स्म तत्तदैकान्त्यम् ॥२३॥

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥२४॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२५॥
तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥२६॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् , हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥२७॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥२८॥
को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ॥२९॥
इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष्यः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥३०॥

[ऋग्० १०।१२९।१–७]

किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आसीत् यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छते दु तद् , यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥३१॥
ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥३२॥

[तै० ब्रा० २।८।९]

सदसत्प्रभृतीन् वादान् दश तान् पूर्वं प्रदर्श्य किञ्चिदिह ।
ब्रूमः प्रजापतेरथ सिद्धान्ते ब्रह्मणः सृष्टिम् ॥३३॥
दश वादानामेषां समन्वयाद्ब्रह्मणः सृष्टिम् ।
ब्रूमस्तथा यथैते व्याख्याताः सृष्टिमंत्राः स्युः ॥३४॥
प्रश्ना यथा सन्ति जगत्प्रसृष्टौ तथैव चाध्यात्ममयि श्रुतास्ते ।
प्रश्नान् बहून् दीर्घतमा महर्षिश्चापृच्छतेऽध्यात्मयथाधिदैवम् ॥३५॥
न वि जानामि यदि वेदमस्ति निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा माऽगन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥३६॥

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥३७॥
[ऋग्० १।१६४।३७,६]

एवंविधानामपि संशयानामाध्यात्मिकानामधिदैवतानाम् ।
यथा भवेन्निस्तरणं तदर्थं सिद्धान्तविज्ञानमिदं वदामः ॥३८॥
प्राग् निर्विशेषोऽथ मनस्त्रिपूरुषं त्रिविग्रहं चेश्वरविग्रहस्ततः ।
जीवात्मरूपं च तदात्मनो गतिर्वादान्वयश्चेत्यनुवाकसंग्रहः ॥३९॥

२. ब्रह्मशब्दविचारः

१–जगत्कारणे निर्विशेषे ब्रह्मशब्दः

व्याचक्ष्महे ब्रह्म यदस्य मूलं विश्वस्य तद्ब्रह्म तदेकमाद्यम् ।
असीम नित्यं ध्रुवमद्वितीयं नातः परं किञ्चिदिहास्ति वेद्यम् ॥४०॥
विश्वस्य तूलस्य यदस्ति मूलं तस्यैव चैकस्य तु बृंहणेन ।
पश्यामि विश्वं तत एव मूलं तद्ब्रह्मशब्देन सदा वदामि ॥४१॥
खवद् विभुत्वान्न ततः परं बृंहन्नान्यच्च सर्वप्रसवोऽस्ति बृंहणम् ।
बृहत्सदा यत्परि बृंहणं च यत् तदुच्यते ब्रह्म जगद्यतोऽभवत् ॥४२॥
सर्वं भृतं यत्र, बिभर्ति वा समं सर्वं यतो वा भ्रियते बहिर्नहि ।
तद्ब्रह्म सर्वस्य हि तस्य चक्षते बुधा विपर्य्यस्य तु भर्मणे हरौ ॥४३॥
नाम्नां यथा वागथ, रूपसंहतेश्चक्षुर्यथात्मा पुनरात्मकर्मणाम् ।
तथा यदुक्थं यदु साम दृश्यते तद्ब्रह्म विद्यादिह विश्वकर्मणाम् ॥४४॥
स ब्रह्मशब्दोऽस्त्यविशेष एवैतद्बृंहणात् ते पुरुषा अभूवन् ।
ये विग्रहास्तत्पुरुषैकतन्त्र्यात् तेष्वैतदात्म्यात्प्रथते स शब्दः ॥४५॥

२–ब्रह्मबृंहणे जगच्छब्दः

यद् ब्रह्म निर्दिष्टमिदं समन्ताद् व्योमेव चाखण्डमनन्तमाभु ।
तस्यैकतत्त्वस्य हि बृंहणेनोत्पन्नं समग्रं जगदेतदस्ति ॥४६॥

३–अनिरुक्तब्रह्मणि जगतो निरुक्तब्रह्मत्वम्

प्रजापतिर्ब्रह्म तु रूपमस्यानिरुक्तमन्यच्च निरुक्तमन्यत् ।

पूर्वानिरुक्तस्य निरुक्तिरग्रे विधीयते तद् तद्द्वयमस्त्यभिन्नम् ॥४७॥
दिग्देशकालादिपरिग्रहस्तु प्रजापतेरस्य निरुक्तताऽस्ति ।
तैश्चापरिच्छित्तिरिहानिरुक्तिः सोऽखण्डनिर्धर्म्मकनिष्कलोऽर्थः ॥४८॥
प्रस्तूयते यत्र हि वस्तुसत्तामात्रेण किन्तु स्वगतो न भेदः ।
विवक्ष्यते नापि च तत्र संख्या द्वित्वादिकास्यादनिरुक्तमेतत् ॥४९॥
निरुक्तिरेषा यदि चेदनेके भेदा भवन्तीह निरूप्यमाणाः ।
स्याद्धर्म्मधर्म्मित्वविवेचनाऽस्मिन् विज्ञायते तद्धि निरुच्यते च ॥५०॥
यत्किञ्च पश्याम्यखिलं तदेतन्निरुक्तरूपं सह भेदसंख्यम् ।
एतस्य मूलं त्वनिरुक्तरूपं ब्रह्मास्ति तन्नेह विशिष्य विद्मः ॥५१॥

४—शान्तब्रह्मणि जगतः समृद्धब्रह्मत्वम्

ब्रह्म द्विधा शान्तसमृद्धभेदात् , यद् दृश्यते सर्वमिदं समृद्धम् ।
वृण्वन् पयः फेन इवाम्बुनो वा तुषारखण्डा इव सर्वमेतत् ॥५२॥
यद् दृश्यते किञ्चन सर्वमेव त्वनारतं तत्परिवर्तशीलम् ।
पर्य्यायभूताः परिवर्तितास्ते तेषु द्विधा नः प्रतिपत्तिरस्ति ॥५३॥
व्यावृत्तरूपा य इमे त एव व्यावृत्तरूपाश्च मिथो भवन्ति ।
हैमीषु भूषासु विभिन्नरूपास्वस्त्येकवद्धेममयत्वरूपम् ॥५४॥
तथैषु भिन्नेषु यदस्त्यभिन्नं यद्वा विनश्यत्स्वविनाशि किञ्चित् ।
तदेव शान्तं पृथगस्य रूपं यद् भिद्यते रूपमिदं समृद्धम् ॥५५॥
पर्य्यायभावावसितान्यमीषां सर्वाण्यपि स्युः परिवर्तनानि ।
शान्तावसानान्यति वा कदाचित् भवन्ति तानीति तु चिन्त्यमेव ॥५६॥
शान्तावसानानि न चेत्तदानीं विमुक्तिवादो विदुषां विरुन्ध्यात् ।
न वा विरुन्ध्याद् विदुषां तु मुक्तिः स्याद्विद्यया संसृतिबीजनाशात् ॥५७॥
कर्म्माश्रयात् स्यात्परिवृत्तिरेषा न साऽखिला संसृतिरस्ति किन्तु ।
क्लेशैः कृता कर्म्मगुणैर्हि भागे प्रयोजिका संसृतिरन्यथैव ॥५८॥
यतस्तु शान्तस्य समृद्धिभावस्तत्कर्म्म तद् ब्रह्मणि सत्यसद्वत् ।
शान्तं स्थितं ब्रह्म तु धर्म्मि तस्मिन् धर्मोऽस्ति कर्म्मैव समृद्धिहेतुः ॥५९॥
यद् ब्रह्म यत्कर्म्म तदस्ति तत्त्वद्वयं ततो ब्रह्मणि सुप्रशान्ते ।
उत्थाय नश्यन्ति हि कर्म्मखण्डाः खण्डानुसारेण समृद्धभावाः ॥६०॥

समृद्धभावस्य तु कर्म्महेतुः कर्म्मस्वभावाद् भवति क्षिणोति ।
खण्डः कनीयान्महतीह खण्डे तस्मिन्कनियांश्च ततः कनीयान् ॥६१॥
शान्तं तमानन्दमथाभयं विदुः शांतिश्च सानन्द इति प्रकथ्यते ।
शान्तं विना नास्ति समृद्धमित्यतः समृद्धमानन्दमपि प्रचक्षते ॥६२॥
शान्ते स्थितं कर्म्म निलीनमस्मिन् त्वक्षुब्धकर्म्मापि ततः पराक् स्यात् ।
यत्रास्ति यत्रेति यथा यथा वा क्षुभ्णाति सर्वत्र रसः समानः ॥६३॥

३. आत्मशब्दविचारः

१–'आत्मनिरुक्तिः'

उत्तिष्ठते कार्य्यमिदं यतो वा कार्यान् विशेषान् य इमान् बिभर्ति ।
समं विशेषेष्वखिलेषु यत्स्यात् तत्तद्विशेषस्य यतः स आत्मा ॥६४॥
उक्थं च यद् ब्रह्म यदस्ति साम यत् स उक्त आत्मा स निरूपकस्त्वयम् ।
उत्तिष्ठते यद् ध्रियते विशिष्यते तस्यैष आत्मा भवतीति दर्शितम् ॥६५॥
उक्थं च यद् ब्रह्म च साम वा यत् तत्रात्मशब्दस्त्रयमेतदेकम् ।
आत्मैव हि ब्रह्म च साम चोक्थं त्रयं त्विदं यस्य स तस्य चात्मा ॥६६॥
षड्विंशकब्राह्मण आहुरार्य्या उक्थं तु वाग् ब्रह्म मनस्तदेतत् ।
प्राणव्यपेक्षं स्वस्य वात्मनोऽपि स्यातामवच्छिद्य परस्य वैते ॥६७॥
अङ्गानि यस्याङ्गिन एष आत्मा द्विधा स धर्म्मोपहितो विशेष्यः ।
धर्म्मी विशिष्टस्तु विशेषितस्तैरात्माऽनिरुक्तोऽस्ति स चास्ति सर्वः ॥६८॥
आत्मा प्रजा वा पशवः सह स्युः प्रजाऽन्तरङ्गं बहिरङ्गमन्यत् ।
अङ्गद्वयेनोपहितो य आत्मा स एव ताभ्यां च विशिष्ट इष्टः ॥६९॥
आत्माऽविनाभूत इहान्तरङ्गस्तदन्यतायामयमस्य आत्मा ।
बाह्यास्तु धर्म्माः परिवृत्तिशीला आत्मा विना तैरपि सोऽस्ति रिप्यन् ॥७०॥
अङ्गानि वृक्षास्तु वनस्य धर्म्मिणो वनं तदात्माऽवयवीति भिन्नधीः ।
आरम्भणास्ते तरवोऽपि तद्वनस्यात्मेति धीरस्ति विवक्षया पृथक् ॥७१॥
योनिर्विशेषोऽस्ति यतो विशेषा भवन्ति वाक्प्राणमनांसि पूर्वम् ।
एषां स आत्मायमखण्ड आत्मा न ज्ञायतेऽद्धा न निरुच्यतेऽद्धा ॥७२॥
अदेशकालानुगतागतिर्य्या तामाहुरुच्छित्तिमयं विनाशः ।
अभाव एषोऽथ विपर्य्ययोऽस्यानुच्छित्तिधर्म्माऽस्त्त्यविनाश्य आत्मा ॥७३॥

२—प्रजापतेरात्मत्त्वम्

आत्मानमेके प्रवदन्ति यज्ञं वेदं परे किन्त्विह यज्ञसिद्धिः ।
वेदात्मवेदोऽपि न चान्तरेण प्रजापतेरस्ति ततः स आत्मा ॥७४॥
प्रजापतिः सोऽस्ति यतः प्रजोदयस्तिष्ठन्ति ता यत्र लयं च यन्ति ताः ।
तद्ब्रह्म तत्साम तदुक्थमस्त्यतस्तासां स आत्मेति वदन्ति वैदिकाः ॥७५॥
जीवस्येशोऽथेश्वराणां महेशस्त्रिष्वेष्वात्मा त्वक्षरोऽस्ति क्षराणाम् ।
तस्याप्यात्माऽस्त्यव्ययः पूरुषाणामेषामात्मा तन्मनोऽथाविशेषम् ॥७६॥

❀४. जगदात्मनस्त्रैभाव्यविचारः

१—प्रजापतेस्त्रैभाव्यम्

प्रजापतिश्च प्रतिपद्यते त्रिधा स निर्विशेषः पुरुषश्च विग्रहः ।
आत्माऽस्त्ययं विग्रहिणां तु पूरुषोऽद्य पूरुषाणामविशेष इष्यते ॥७७॥
वैराज-शारीरिक-सोपसर्जन-प्रभेदतः स प्रतिपद्यते त्रिधा ।
योनिर्विशेषः स हि सोपसर्जनो देही स वैराज इति क्रमाद्भवेत् ॥७८॥
वैराज आत्माऽखिल एष दृश्यते प्रजापतिः स त्रिविधो विभाव्यते ।
जीवा इमेऽमी पुनरीश्वरा अथो परेश्वरो नास्ति परेश्वरात्परः ॥७९॥
सन्तीश्वरास्ते परमेश्वरेऽस्मिन् सन्तीश्वरेऽनन्तविधाश्च जीवाः ।
क्षयन्ति जीवाश्च तथेश्वराश्च क्षयं न मन्ये परमेश्वरस्य ॥८०॥
परेश्वरो वेश्वरो एष जीवोऽप्येकैक एषोऽस्ति समानभावात् ।
शारीरकैः संप्रचितश्चतुर्भिर्विराण्[1]मनः[2] पूरुष[3]-निर्विशेषैः[4] ॥८१॥

❀जगदात्मनः प्रजापतेस्त्रैभाव्यम् ।
१—निर्विशेषस्य जगन्मूलत्वम् ।
वैराजः, शारीरकः, उपसर्ग :—इति प्रजापतिस्त्रेधा ।
जीवः, ईश्वरः, परमेश्वर इति वैराजस्त्रिविधः ।
विराट्, पुरुषः, मनः, निर्विशेष इति शारीरकश्चतुर्विधः ।
प्रतिशरीरमुपसर्गद्वययोगः ।
२—वैराजशारीरकोपसर्गभेदात् प्रजापतेस्त्रेधा प्रतिपत्तिः ।
३—जीवेश्वरपरमेश्वरभेदात् वैराजप्रजापतेस्त्रैविध्यम् ।
४—विराट्पुरुषमनोनिर्विशेषभेदात् शारीरकप्रजापतिश्चतुर्विधः ।
५—प्रतिशारीरमुपसर्गद्वययोगः ।

स्थूलं च सूक्ष्मं खलु कारणं चेत्येतच्छरीरत्रितयं विराट्[1] स्यात् ।
परेश्वरोऽन्यश्च तथेश्वरोऽन्यो जीवोऽन्य इत्थं स विराट् पृथक् स्यात् ॥८२॥
प्रजापतिर्देहभृदेष दृश्यते देहास्त्रयः कारणसूक्ष्मपीवराः ।
पाप्मान एते यत आत्मनः पृथक् क्लेशा अविद्याप्रचुराश्च सन्त्यमी ॥८३॥
देहत्रयान्तर्विभवन् निरञ्जनो देहातिरिक्तः पुरुषः[2] प्रजापतिः ।
भवन्ति मायाकृतविग्रहास्त्रयस्ते पूरुषा अत्र परोऽक्षरः क्षरः ॥८४॥
मायाबले नास्त्यमिते मितिस्ततो मितास्त्रयस्ते पुरुषा हि मायिनः ।
यस्मिंस्तु मायास्ति पृथक् स भावितः परात्परो भात्यमितः प्रजापतिः ॥८५॥
स सर्वधर्म्माऽखिलरूपनामवान् स सर्वकर्म्मास्ति परात्परो[3] बली ।
बलैस्तु सर्वैः पृथगेष भावितः स्यान्निर्विशेषो[4] रस एव केवलः ॥८६॥
अविद्ययाऽसौ रहितः स मायया शून्यो बलान्यप्यचितानि तत्र ।
निर्लक्षणः सास्ति परा गतिः परा काष्ठा च वाचो मनसोऽप्यगोचरः ।
इत्थं चतुःकक्षविधिः प्रजापतिर्वैराज एकः पुरुधा विवृंहति ॥८८॥
आत्मा पुमान् देहभृतां परात्परः पुंसाममुष्याप्य विशेषइष्यते ।
परात्परो नास्ति विना विशेषं ताभ्यां विना न क्व च पूरुषाः स्युः ॥८९॥
पुर्य्यः शरीराणि न पूरुषैस्तैर्विना न ताभ्यां स्थितिमालभन्ते ।

२—निर्विशेषस्य जगन्मूलत्वम्

तत्राविशेषं प्रथमं वदामः प्रजापतिः स प्रथमो न आत्मा ।
आत्मा प्रजा वा पशवो य ऊर्ध्वं वक्ष्यन्त एषां प्रभवोऽविशेषः ॥९०॥
यदस्ति किञ्चिद् विविधस्वरूपं ध्रुवं विशेषास्त इमे निरुक्ताः ।
ते निर्विशेषादभवन् विशेषाः स निर्विशेषः परमो न आत्मा ॥९१॥
विकुर्वते सर्व इमे ततस्ते जन्याः स्युरेषां ध्रुवमस्ति मूलम् ।
अन्योन्यतस्ते परिवर्तमाना नान्योन्यमूला इतरत्तु मूलम् ॥९२॥
यो निर्विशेषः प्रभवन्ति तस्मात्सर्वे रसा एकरसः स शश्वत् ।
निर्धर्म्मकोऽपि स्वयमेव धर्म्मानुद्भाव्यते गच्छति धर्म्मिभावः ॥९३॥

५. जगदात्मनः त्रैकाल्यविचारः

१—प्राक्क्षणात्माक्षणयोरनिर्वचनीयत्वम्

त्रिधा ह्यवस्थाऽस्य रसस्य क्लृप्ता प्राक्कालिकी सृष्ट्यवसानकाला ।
सृष्टिक्षणा च, द्वितीये बलं तन्नोद्बुद्धमस्तीत्यविशेषतेद्धा ॥९४॥
किं नाम किं धर्म्म किमस्य रूपं विशिष्य तन्न प्रतिपत्तुमीशे ।
अज्ञेयताऽनिर्वचनीयतास्मिन् न तत्र वाचो मनसोऽवकाशः ॥९५॥
अनामयं तत् तदरूपमुच्यतेऽनात्म्यं ह्यदृश्यं ह्यनिरुक्तमुच्यते ।
तदव्ययं चानिलयं तथाभयं विद्मो न विद्मो यदतोऽन्यदस्ति तत् ॥९६॥
यदत्र पश्यामि यदस्ति किञ्चिन्न तन्न तत्सर्वविलक्षणं तत् ।
यादृक् तदस्तीह न तद् यथावद् विशिष्य विद्मो न च तन्न चास्ति ॥९७॥
स्वलक्षणादेव तु लक्ष्यतेऽर्थस्तल्लक्षणं त्वस्ति हि सृष्टिरूपम् ।
समग्रसृष्टेस्तु यदस्ति बीजं सम्भाव्यते तत्र न लक्षणं तत् ॥९८॥
विशेषवत्येव मनः समर्थं स लक्षणे धर्म्मिणि शब्दशक्तिः ।
अलक्षणे ब्रह्मणि निर्विशेषे न त्वस्ति वाचो मनसोऽवकाशः ॥९९॥
बाह्वः पुरा बाष्कलिनाऽनुपृष्टः प्रोवाच तद्ब्रह्म स मौनभावात् ।
नित्योपशान्तं न विशिष्य वक्तुं शक्यं तदित्येव तथा स ऊचे ॥१००॥

२—सृष्टिक्षणस्य त्रैविध्यम्

सृष्टिक्षणे त्वत्र बलप्रबोधाद् भूयो विशेषेषु भवत्सु तेषु ।
त्रेधाऽविशेषोऽस्ति विशेषकार्त्स्न्याऽस्पृष्टो विशेषानुगतो विशेषाः ॥१०१॥
अस्पृष्टकार्त्स्न्यमाहुः शान्तत्वात्परममानन्दम् ।
सर्वविशेषानुगतं चितमाहुः सृष्टिकृत्स चितेः ॥
सदिदं विशेषरूपं विश्वं सृष्टिक्षणे तथा चेदम् ।
ब्रह्म त्रिधा प्रतीतं कथयामः सच्चिदानन्दम् ॥१०२॥

३—अस्पृष्ट कार्त्स्न्यम्

योऽस्पृष्ट एषोऽस्त्यखिलैर्विशेषैर्विलक्षणः पूर्ववदस्ति सोऽपि ।
अज्ञेयताऽनिर्वचनीयता वा तस्मात्प्रतिज्ञायत एव तस्मिन् ॥१०३

समृद्धमेतत्सकलं यदीक्ष्यतेऽन्योन्यस्वरूपे परिवर्ततेऽखिलम् ।
तेनात्र पर्य्यायविधा इमा मताः सामान्यशान्तं यदमीषु तद्धि तत् ॥१०४॥
अमीषु सर्वेषु निजाङ्गभेदाः स जातिभेदा असजातिभेदाः ।
सन्त्येव ते यत्र न सन्ति तेषां सामान्यरूपं यदिहास्ति तत्तत् ॥१०५॥
अबोध्यमस्तीति हि तस्य बोधोऽनिरुच्यमस्तीति च तन्निरुक्तिः ।
सर्वे विरोधा अविरोधमस्मिन् गतास्तथा हि ब्रुवते कवीन्द्राः ॥१०६॥
यस्यामतं तस्य मतं तु मन्ये मतं तु यस्यास्ति न वेद तत्सः ।
अज्ञातमेतत्खलु जानतां स्यादजानतां ज्ञातमिति ब्रवीमि ॥१०७॥

४–सर्वानुगतः

अथास्ति सर्वेषु तु यो विशेषेष्वनुश्रुतः कोप्यविशेषरूपः ।
व्यावर्तते न क्वचिदेष तस्मादलक्षणं वेद्मि न वेद्मि वा तम् ॥१०८॥
द्विधा त्विदं लक्षणमस्ति दृष्टं स्वरूपमन्यच्च तटस्थमन्यत् ।
तत्राविशेषस्य न वक्तुमर्हं स्वरूपमेतज्जगतोऽतिरिक्तम् ॥१०९॥
यल्लक्षणं तस्य तटस्थमन्यज्जगत्तदेतेन तु लक्ष्यते तत् ।
जन्मास्य नूनं जनकेन भाव्यं ततोऽविशेषं प्रभवं प्रतीमः ॥११०॥

५–विशेषाकृतिकः

सर्वाणि नामान्यपि सर्वकर्म्माण्यशेषरूपाणि च तस्य सन्ति ।
सर्वैश्च रूपैरयमेव तैस्तैः सर्वाणि कर्म्माणि करोत्यमूनि ॥१११॥
नामानि नामास्य च कर्म्म कर्म्माण्यशेषरूपाणि च तस्य रूपम् ।
यतस्तु सत्यात् तदभूत् त्रिसत्यं सत्यस्य सत्यं तदिति ब्रवीमि ॥११२॥

६. जगदात्मन एकत्वविचारः

१–जगत एकत्वम्

अस्त्येकमेवाखिलविश्वबीजं पश्यामि विस्तारममुष्य विष्वक् ।
अन्योन्यपर्य्यायविपर्य्ययेण सर्वैकतासंप्रतिपत्तिसिद्धेः ॥११३॥
यथैकमूलात्फलपुष्पपर्णप्रकाण्डशाखाविटपादिसिद्धिः ।
तथैव पश्यामि तदेकभावादनेकभावोदयनेन विश्वम् ॥११४॥

शरीरभावा हि यथैकरेतोबिन्दोरभूवन् बहुधा विभिन्नाः ।
कुतो विभेदः कथमेकबिन्दोर्विभिन्नभावा इति कोऽनु विद्यात् ॥११५॥
यद्रेतसश्चक्षुरभूत्ततोऽभूच्छ्रोत्रं च वाक् चेति विशेष एषाम् ।
कस्मात् कुतश्चक्षुरिवान्यभावा न कर्म्म कुर्य्युस्तदचिन्त्यमेतत् ॥११६॥
यावद् यथावत्पुनरस्य रूपं याः शक्तयश्चक्षुषि ताश्च सम्यक् ।
वेत्तुं कथंञ्चित्प्रभवाय यत्नात्परं तु रूपं तदचिन्त्यमेव ॥११७॥

२—मतभेदः

आहैतरेयो भवतीह रेतःप्रत्यङ्गतः सम्भृततेजसस्तम् ।
तद्भ्रूणकीटाङ्गविकाशतोऽयं मनुष्यदेहे भवतीति मन्ये ॥११८॥
सृष्टेर्य्यदादौ प्रथमं शरीरं न तत्पितुर्जातमतोऽभविष्यत् ।
अमिश्रितद्रव्यजमेतदेकं किन्त्वस्ति सृष्टेर्न कदाचिदादिः ॥११९॥
वृक्षस्य बीजं ध्रुवमन्यवृक्षाज्जातं न निर्बीज उदेति वृक्षः ।
तद्वृक्षवद् बीजमपि द्रुमाणां प्रत्यङ्गसारोद्धृतरूपमेव ॥१२०॥
रेतो यथा ऽसृक्पललास्थिमज्जोपादानभूताणुसमूहरूपम् ।
मूलं यथा वा फलपुष्पपर्णप्रकाण्डशाखाद्यनुभूतकूटम् ॥१२१॥
तेषां विकाशेन यथैवदेहा इमे च वृक्षा बहुलाङ्गपूर्णाः ।
भवन्ति तद्वद्बहुसूक्ष्मनानाकलानिधेर्ब्रह्मण एष सर्गः ॥१२२॥

३—मतप्रत्याक्षेपः

एवं नवीनाः प्रतियन्ति केचित्किन्तु प्रतीमो न तथा कदाचित् ।
अयोनिजानां वपुषि प्रभिन्ना भावा भवन्तीह समानभावात् ॥१२३॥
काष्ठे फलेऽन्ने च विभिन्नरूपाः कायाः कृमीणां प्रभवन्ति तस्मात् ।
योनिः पृथक् तेषु न शङ्कनीया भेदास्तदारम्भकभेदतः स्युः ॥१२४॥
वृक्षस्य बीजे च न सन्ति वृक्षा खिलाङ्गसूक्ष्मावयवा यथावत् ।
सवृत्तपत्रद्वयमात्रमत्र प्रतीयतेऽन्तर्वृगलं निगूढम् ॥१२५॥
यद्येकजातेर्बहुजातिसिद्धिः प्रदृश्यते तर्हि कुतो न तस्मात् ।
स्युरेकतो ब्रह्मण एव सर्वे भिन्नाः पदार्था बहुशक्तिभाजः ॥१२६॥
अलं तु दृष्टान्तपरम्पराभिर्न ब्रह्मणा तुल्यमिहास्ति किञ्चित् ।
सृष्टेरपूर्वा रचनास्ति तस्यां कः सम्भवासम्भवयोः प्रसङ्गः ॥१२७॥

मूलेन सृष्टा नियमा न मूले द्वित्वादिभेदा इह सृष्टिरूपम् ।
स जातिभेदः परजातिभेदः स्वाङ्गप्रभेदश्च न मूलतः स्यात् ॥१२८॥
अन्यान्ययोगादिव तत्र यद्वन्नानाविशेषाः प्रभवन्ति मूलात् ।
इहान्ययोगाननपेक्ष्य तद्वत्सर्वे विशेषाः स्युरयं विशेषः ॥१२९॥
तत्रैवमत्रैवमयं विशेषः कस्मादिवास्तीति न तर्कनीयम् ।
विद्याद्यथारूपमचिन्त्यभावान्न चैव तर्केण तु योजयेत्तान् ॥१३०॥
अत्रैकभावाद्बहुभावसिद्धिः कुतो बभूवेति न सम्प्रतीमः ।
यथैकभावात्तु भवन्ति नानाभावास्तदेवात्र विभावयामः ॥१३१॥

७. द्वैताद्वैतविचारः (मूलत्रिसत्यम्)

रसो बलं चाभ्वमिति त्रिसत्यं त्रिसत्यमेवेदमशेषमस्ति ।
प्राणो बलं तद्ध्यमृतं च मृत्यू रसोऽमृतं ह्यभ्वमिदं तु मृत्युः ॥१३२॥

१—सत्यस्य बलावच्छिन्नत्वम् (अमृतसत्यावच्छिन्नत्वम्)

रसः स तावद् द्विविधोऽस्ति शुद्धो निर्धर्म्मकः कश्चिदलक्षणः स्यात् ।
विश्वस्तु सर्वाभ्वबलाय सृष्टः सोऽशेष लक्ष्मा स च सर्वधर्म्मा ॥१३३॥
अव्यावृत्तो निर्विशषोऽस्ति यद्वत् तद्वत्सोऽन्यः सर्वधर्म्मोपपन्नः ।
शुद्धोऽखण्डो यद्वदेकोऽस्ति तद्वद् विश्वोप्येको भाव्यते सर्वखण्डः ॥१३४॥
आत्मा रसस्तस्य च कार्य्यमन्यद् द्विधा विशेष्यं च विशेषणं च ।
घटो घटत्वं च विशिष्टमेकं कार्य्यं तदित्थं प्रतिवस्तु विद्यात् ॥१३५॥
प्राणो विशेष्यं त्वमृतं तदस्मिन् विशेषणं सत्यपदं तदभ्वम् ।
सत्यं त्रिधा नाम च कर्म्म रूपं ततोऽमृतं छन्नमिदं तु कार्य्यम् ॥१३६॥
प्राणोऽमृतं प्राण इदं तु सर्वं स एक एव त्वपरापरेण ।
नाम्ना च रूपेण च कर्म्मणा वा भिन्नेन भिन्नः क्रियते जगत्तत् ॥१३७॥
प्राणो घटः प्राण इयं स्रवन्ती प्राणः पटः प्राण उतायमद्रिः ।
प्राणः पशुः पक्ष्यथवा मनुष्यः सत्येन भिन्नेन भवन्ति भिन्नाः ॥१३८॥

यतश्चोदेति सूर्य्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाश्चक्रिरे धर्म्मं स एवाद्य स उ श्वः ॥ (बृ.उप.१-५-२)

प्राणः पुरासीत् स हि सूर्य्यरूपो भूत्वाऽयमिन्धेऽथ परं स काले ।
प्राणत्वमायास्यति सूर्य्यरूपं त्यक्त्वाऽथ सूर्य्योऽपि ततो न भिन्नः॥१३९॥

बलावच्छिन्नो रसः शुक्लत्रिसत्यम्

यच्चामृतं प्राणपदेन क्लृप्तं प्राधान्यतः स व्यपदेश इष्टः ।
प्राणः कदाचिन्मनसा च वाचा न हीयते तद्ध्यमृतं त्रिकं स्यात् ॥१४०॥
प्राणो घटो यत्तु घटत्वमस्मिंस्तत्कर्म्म तन्नाम तदस्य रूपम् ।
सत्यं घटत्वं महदभ्वमेतद् यक्षं भवत्यव्ययपर्य्यवस्थम् ॥१४१॥

२—अभ्वम्

प्राणो बलं तत्र मनो रसो वागभ्वं भवेदव्ययलक्षणं तत् ।
रसं तमाभूं प्रवदन्ति तुच्छं बलं तथाऽभ्वं च वदन्ति मायाम् ॥१४२॥
एषां त्रयाणामिह चोत्तरोत्तरि क्रमोऽस्ति पूर्वं रसतो बलं भवेत् ।
बलान्यनन्तानि परस्परेण यं संसर्गमायान्ति तदभ्वमुच्यते १४३॥
असद्बलं किन्तु सतो रसस्य प्रयोगतः सत्प्रतिपद्यते तत् ।
सतो बलस्य प्रतिपत्तुमर्हं नास्ति स्वरूपं यदसृष्टमाद्यम् ॥१४४॥
बले सतीदं बलमेति सच्चेदणिम्नि कुत्रापि यदैक्यमेति ।
द्वयोर्बहूनामपि वैकभावात्संसृष्टमभ्वं तदुदेति रूपम् ॥१४५॥
संसर्गभेदा अपि सन्त्यनेके भेदो बहुत्वं च कुतोऽप्यपैति ।
यदैक्यमायान्ति बलानि तत्र द्वयोर्निपातेन भवेत्तदभ्वम् ॥१४६॥

अभ्वावच्छिन्नो रसः, अभ्वत्रिसत्यम्

तात्कालिकं भूरि बलाभिमर्द्दजं लोकत्रयातीतमदोऽभ्वमत्र यत् ।
न दृश्यते यद्भृशमत्र दृश्यते न दृश्यतेद्यापि तदस्त्यलौकिकम् ॥१४७॥
स तित्तिरिः प्राह स याज्ञवल्क्यो यन्नाम यत्कर्म च यच्च रूपम् ।
त्रयं तदभ्वं तदिदं त्रिलोक्या बाह्यादुपैत्यत्र परात्मसृष्टम् ॥१४८॥
यः प्रत्ययो हीन्द्रियजः स येनाकारेण चाकारित उद्गतः स्यात् ।
रूपं तदाहुर्न विना तु रूपं ज्ञानं क्वचित्किञ्चिदुदेति लोके ॥१४९॥
श्रोत्रेण तु प्रत्यय उद्गतः सन् रूपं द्विधा धारयते सहैव ।
शाब्दं हि रूपं क्रमबद्धवर्णास्तदर्थरूपं स्मृतिसंनिकृष्टम् ॥१५०॥

रूपाविशेषेऽपि तयोः प्रभेदं प्रवक्तुकामा इव चार्थरूपात् ।
रूपं पृथक्कृत्य वदन्ति शाब्दं नामेति शब्देन विशेषविज्ञाः ॥१५१॥
यन्नाम यद्रूपमुदेति भेदात् तत्र ध्रुवं कर्म्म पृथक्तयास्ति ।
कर्म्मप्रभेदादिव रूपभेदो रूपप्रभेदादिव नामभेदः ॥१५२॥

रसस्य सत्तारूपेण सर्वत्रानुस्यूतत्वम्

अभ्वे बलं तत्र रसो हि सत्ता त्रयी च सत्ता रसतोऽपृथक्त्वात् ।
सत्ता बलेऽभ्वे च रसात्मनेयं सत्यामृतेऽस्तित्वमतो विशेषे ॥१५३॥

३ वैशेषिकमतालोचना

अथोभयत्रानुगता तु सत्ता घटत्वमप्यस्ति घटो यथास्ति ।
सत्ता *घटत्वं त्वथ कर्म्मरूपे विवाद एवात्र मतद्वयेऽस्ति ॥१५४॥
वैशेषिकाणां तु घटत्वमेतत्सामान्यमेवेति न तत्र सत्ता ।
मयोच्यते त्वव्ययपर्य्ययो वाग् घटत्वमभ्वत्रयकोशसत्यम् ॥१५५॥
द्रव्यं घटः सोऽस्ति विशेष्यरूपो मृद्येव जन्यः समवेतरूपः ।
वैशेषिकाणामथवा घटोऽयं प्राणोऽव्ययात्मा बलकोशसत्यम् ॥१५६॥
घटे घटत्वे च समं विभुत्वात्सत्ताऽव्ययेऽस्मिन्ननुवर्ततेऽद्धा ।
दृश्ये द्वयेऽस्मिन् सह यास्ति बुद्धिःसैवोपलब्धिर्न दृशः पृथक् सा ॥१५७॥
प्राणो घटो वाग् घटता तयोर्या स युक्तदृष्टिर्न मनसोऽन्वयः सः ।
आकाशमस्त्यायतनं मनो यत्तद्द्रष्टव्यमत्रैव घटो घटत्वम् ॥१५८॥
प्राणो मनो वागिति हि त्रिसत्ये शुक्रं तदेवेदमशेषमस्ति ।
रसो मनस्तत्र बलप्रसूतिः प्राणोऽथ वागभ्वमियं हि माया ॥१५९॥
असद्बलं तद्वदसत् तदभ्वं सत्ताऽनयोर्या स रसोऽत्र दृष्टः ।
रसो हि सत्ता स च निर्विशेषो घटत्वमस्मिंस्तु विशेषभावः ॥१६०॥
घटत्वमभ्वत्रयमत्र चान्यो यावान् रसः प्राण रसाद्विभूतः ।
सा तस्य सत्ता तदभेददृष्ट्या सामान्यभावं च घटत्वमाहुः ॥१६१॥
प्राणो घटो योऽत्र विशेष्यमात्रः कूटो बलानां स बलानि तत्र ।
गुणाश्च कर्माणि च तत्र यावान् रसः पृथक् सा पुनरत्र सत्ता ॥१६२॥

---

* घटस्य भावः कर्म्म वा घटत्वम् । भावः सत्ता इति यावद् घटव्यक्त्यनुगतं सामान्यम् ।

या दृश्यता तत्र बले तथाऽभ्रे सैवोपलब्धिः खलु सैव सत्ता ।
रसः स भिन्नो हि बलात्तथाऽभ्रात् तेनायमानन्द इह प्रशान्तः ॥१६३॥
आनन्दभावोऽभ्वबलात्पृथक्त्वं विज्ञानभावोऽभ्वबले विभुत्वम् ।
स-तां रसस्याभ्वबलात्पृथक्त्वं भेदोऽयमेकस्य भवत्युपाधेः ॥१६४॥

८—कार्य्यमात्रानुस्यूतो रसः कृष्णत्रिसत्यम्

१—निर्विशेषोऽयमानन्दः

समे विशेषेष्वविशेष ईक्ष्यते, यथा मदंशोऽखिलपार्थिवेष्वयम् ।
हैमीषु भूषासु विशेषितास्विदं हेमाविशेषं तदपीह दृश्यते ॥१६५॥
तथा जगत्स्वप्यखिलेषु किंनु तत्समं विशेषेष्वविशेषमीक्ष्यते ।
सर्वत्र साधारणमेकवस्तु यद् दृश्येत कल्प्येत तदस्य रम्भणम् ॥१६६॥
अत्रोच्यते दृश्यत एव सर्वतोऽविशेष आनन्दरसः स रम्भणः ।
सर्वोऽयमानन्द इहानुभाव्यते ह्यानन्दमात्रामनुजीवनं स्थितिः ॥१६७॥
क एष जीवेत्किमु वा स्थितं स्यादाकाशमानन्दमयं न चेत्स्यात् ।
वायुस्थितो वायुबलं न बुद्ध्यत्येवं तमानन्दमया न वेत्ति ॥१६८॥
प्रपूर्णता विश्वगतोच्यतेऽसावानन्द आकाशमिदं न शून्यम् ।
पृक्तं परेणाखिलमस्ति पूर्णं भयं तु यत्रोदरमन्तरं स्यात् ॥१६९॥
भूमैव चानन्द इति प्रतीमो नाल्पे सुखं क्वापि यदाल्पमात्रः ।
भूमानमभ्येति हि तर्हि वृद्धिं गच्छन् सुखं सोऽनुभवत्यवाप्तम् ॥१७०॥
अवाप्य भूमानमयं स पश्चात्सुखं पुनर्नानुभवेत्तथापि ।
पूर्वानुभूतेन सुखेन वृद्धोऽस्यात्मा प्रशान्तोऽस्ति सुखी चिराय ॥१७१॥
तस्माद् द्विधानन्द इति प्रतीमो भूमा प्रशान्तश्च तथा समृद्धः ।
परात्परस्ते पुरुषाः समृद्धं रूपं प्रशान्तं त्वविशेषमेतत् ॥१७२॥
अणौ यदल्पं सुखमस्ति तद्वै भूमानमाप्ते क्रमशः समृद्धम् ।
भूत्वा परां गच्छति यत्र काष्ठां नातः समृद्धिः स हि शान्तभूमा ॥१७३॥
स शान्तभूमैव हि निर्विशेषः शान्तः स आनन्द इति ब्रवीमि ।
आनन्दतः सर्वमिदं प्रजज्ञे मात्रास्य सा जीवति यद्धि जातम् ॥१७४॥

शान्तः स आनन्द इदं पुरासीद्भूमा स चाभ्यैरणिमानमाप्य ।
स्वं रूपमाप्तुं क्रमते समृद्ध्यै पुनः स कैवल्यमवाप्य शान्तः ॥१७५॥
समृद्धिमभ्येति यदा तदानीमग्ने स गच्छन्न जहात्यवाप्तम् ।
प्राप्तं स्वरूपं त्वजहत्परस्मै यदग्रमापाति समृद्धिरेषा ॥१७६॥
यात्यन्यदेशं त्वजहत्स्वदेशं विजायते किन्तु न हीयते स्वयम् ।
अक्षीणमुत्पादकमेति सुस्थं मन्ये तदानन्दसमृद्धिरूपम् ॥१७७॥

२—निर्विशेषचैतन्यम्

य एष आनन्दरसोऽस्य भूम्नस्त्रेधा चितिः सृष्टिविधौ स्वतोऽस्ति ।
अनन्तरात्मान्तरिता च तद्वत्क्रमान्तरा ताभिरिमे विशेषाः ॥१७८॥
अनन्तराभिश्चितिभिस्त्वपूर्वा सृष्टिर्यथा शब्द उदेति घातात् ।
अग्निश्च वायुद्वयघाततः स्यादापश्च वायुद्वयघाततः स्युः ॥१७९॥
आपश्च वायुश्च यदैकदेशे घनं चिताःस्युर्मृदियं ततः स्यात् ।
संयोगवैचित्र्यवशात्तदित्थं स्युः सृष्टयोऽनन्तरचित्युपायात् ॥१८०॥
अल्पान्तराभिश्चितिभिश्चितोऽर्थः प्रवर्द्धते पिण्ड उदेति तर्हि ।
लोष्टं शिलावस्त्रमनस्तदित्थं पिण्डाःस्युरल्पान्तरचित्युपायात् ॥१८१॥
क्रमान्तराभिश्चितिभिस्तु पिण्डाद्बहिश्चतुर्दिक्षु करास्तताः स्युः ।
समन्ततोऽग्नेश्च रवेश्च भासश्चिता विकीर्णा अपि तद्वतः स्युः ॥१८२॥
सजातिक्लृप्ताश्च विजातिक्लृप्ताः संमिश्रक्लृप्ताश्चितयस्त्रिधा स्युः ।
इत्थं रसः कोऽपि चितिप्रभावात्सृष्टं समृद्धं भवतीति रूपम् ॥१८३॥
साधारणी सा चितिरत्र दृश्यते न त्वस्ति तद् यच्चितिभिर्विना कृतम् ।
सा चेतना तेन परो रसानुगोऽविशेष एवेति परं प्रचक्ष्महे ॥१८४॥
सृष्टिश्च पिण्डाः किरणाः समृद्धिर्भूमानमभ्येति क्रुशः समृद्धा ।
ततश्च नूनं चितयोऽपि सर्वाः समृद्ध आनन्द इति प्रणीयात् ॥१८५॥
आत्माऽयमानन्दमयोऽस्ति योऽधिकप्रेष्ठोऽस्ति तस्मा अपरे प्रिया इमे ।
चित्या कृतः पिण्ड इवैष देहगः कश्चित्ततो ज्ञानमयाः करास्तताः ॥१८६॥
आनन्द एव स्थितशान्तरूपः स चीयते यत्परितः स एति ।
स्वस्मिन् स्थितस्यास्ति गतिर्विदूरे सा चेतना तच्चयनं हि तस्य ॥१८७॥

आत्मायमानन्द इहास्ति देहे दूरस्थितं वस्तु विगाहते सः ।
तत्रैष पश्येदपि वा न पश्येन्मनो बहिः प्रैति न हीयतेऽन्तः ॥१८८॥
विजायते रूपमिदं यदस्माद्बहिर्गतादात्मन एव नाना ।
विज्ञायतेऽर्थः स इतीत्थमाहू रूपं हि विज्ञानमिदं द्वितीयम् ॥१८९॥

३—निर्विशेष—सत्ता (८)

विज्ञानमेतद्भवति त्रिखण्डं यद् द्रष्टृभासास्य विभाति दृश्यम् ।
द्रष्टाऽयमानन्द इयं तु दृष्टिः स्याच्चेतना दृश्यकुलं तु सत्ता ॥१९०॥
द्विधा विभक्तं हि तदत्र दृश्यं दिग्देशकालातिगतं च किञ्चित् ।
दिग्देशकालाश्रयमन्यदन्यत् तत्राविकारं सविकारमन्यत् ॥१९१॥
यन्निर्विकारं विभु तद्धि सत्तासामान्यमानन्दमयं चिदेव ।
नाम्ना च रूपेण च कर्म्मणाचाक्रान्तं विकारि स्वत एव जज्ञे ॥१९२॥
सत्ता तु सामान्यमिहाविशेषोऽनुस्यूत एषोऽस्त्यविशेषतः प्राक् ।
दिग्देशकालैरभितः स भूमा महान्महत्सु त्वणुषु त्वणीयान् ॥१९३॥
रूपं च कर्म्मापि च नाम चैतत्सत्यं विशेषो विशिनष्टि यत्तम् ।
ततः परिछिन्नमपीदमन्यत्सामान्यमस्त्यन्यविशेषकेषु १९४॥
मुहुस्तथात्वादणुभिर्विशेषैरणोरणीयान् क्रियते स भूमा ।
इत्थं स भूमाप्यणिमानमायात्परेण सत्येन तदस्ति विश्वम् ॥१९५॥
वैशेषिकाः केऽपि घटत्वमाहुर्नित्यं तु सामान्यमिदं भ्रमात्तत् ।
स्वव्यक्तिसामान्यमपीदमन्यत्सामान्यधर्म्मस्य विशेष एव ॥१९६॥
यद्वास्तु सामान्यमशेषमेवाविशेषकं तत् स्वत एव नित्यम् ।
या व्यक्तिता तस्य च तत्र या वा ता व्यक्तयः सत्यमिदं तु कार्य्यम् ॥१९७॥

४—सत्ताचेतनानन्दानामविनाभावः (७)

सत्तापि धीरेव रसः स भूमा नान्यो यतः सर्वगतोऽविशेषात् ।
अस्तीत्यतो वेद्म्यथ वेद्म्यतोऽस्तीत्येवं द्वयोरस्त्यविनाभवत्वम् ॥१९८॥
भूमा चितः सन् प्रमितस्त्रिधा स्याद्ग्राह्यं ग्रहीता ग्रहणं च तेषाम् ।
विज्ञानमेव ग्रहणं ग्रहीताऽनन्दोऽद्य सत्ता दृशि गृह्यतेऽद्धा ॥१९९॥
द्रष्टुर्दशाऽस्माच्चितया यदन्यः पिण्डाश्रितस्तत्र चितिर्द्विधा स्यात् ।
विशेषरूपं किमपीह सृष्ट्वा तत्र प्रविष्टं त्वविशेषतः स्यात् ॥२००॥

परोऽक्षरो वा क्षर एवमेते सन्ति त्रयो ये पुरुषास्त एव ।
सृष्टा विशेषा अधि तेषु सत्ताऽविशेषतस्तान् सत आहुरस्मात् २०१॥
सत्तेन दृश्यं खलु दर्शनं चिद्‌द्रष्टायमानन्द इति त्रिधा यः ।
स सच्चिदानन्द इहाविशेषः स एकरूपः स च विश्वरूपः ॥२०२॥

५—मतान्तरे अस्ति-भात्योः पृथक्त्वम्

परे विदुर्न त्रयमेतदेकं द्रष्टा तुतदर्शनमंशुवत्स्यात् ।
दृश्यं तु नो दर्शनतोऽवक्लृप्तं स्थितं हि तज्ज्योतिपि भ्राति पृक्तम् ॥२०३॥
ज्ञानेऽपि संस्कार उदेति योऽसावर्थानुरूपः स तु दृर्षभागः ।
विस्रंस्यतेऽजस्रमयं स्वभागैः प्रपूर्य्यते चेति पुरीपवत् सः ॥२०४॥
अनेकशक्तिप्रचयस्तु सत्ता तत्कर्म्म तद्रूपमिदं घटत्वम् ।
आवाप्य चोद्वाप्य तु शक्तिमन्दान् प्राक्कर्म्मरूपं न तथावलोके ॥२०५॥
प्रत्यर्थमिह्यपृथगस्ति सत्ता विश्वस्य सत्तापि तथा परोऽर्थः ।
अशेषशक्तिप्रचयो न तस्मादुद्वाप्यते कर्ह्यपि कापि शक्तिः ॥२०६॥
सा विश्वनिष्ठा न घटार्थनिष्ठा क्षुद्रे घटे नाखिलशक्तियोगः ।
व्यासज्ज्य वृत्या त्विह विश्वसत्ताप्यास्तां तु विश्वावयवे घटेऽस्मिन् ॥२०७॥
पर्य्याप्तिरस्मिन्नुभयोस्तु सत्तयोर्घटे प्रक्लृप्ता ध्रुवमूनवारिका ।
घटस्य सत्तैव तदन्यवारिका पर्य्याप्यते तत्र घटेन जागती ॥२०८॥
ज्ञानं च सत्ता च तदित्थमन्योन्योऽर्थो द्वयोः शाश्वतिकत्वमीक्षे ।
तद्ब्रह्म कर्म्मोभययोगसिद्धिं सर्वं जगज्जातमिति प्रतीमः ॥२०९॥

६—पृथक्त्वमतनिरासः (१२)

इत्थं विदुः केचन तन्न सम्यग् नानेकशक्तिप्रचयो हि सत्ता ।
सत्ता विभुस्तद्‌ग्रहणे समर्थः सोऽनेकशक्तिप्रचयोऽवधेयः ॥२१०॥
यदस्ति तद् भात्यथ भात्यतोऽस्तीत्येवं न भेदे विचिकित्सनीयम् ।
अस्तीति भातीत्युपलब्धिरेका मिथ्यैव माया कुरुतेऽत्र भेदम् ॥२११॥
घटोऽस्ति सत्ताऽथ पटोऽस्ति सत्ता भेदोऽस्ति सत्ताऽथ तदन्तरेऽपि ।
खमास्ति सत्ता तदभावसत्ता सैकैव सत्ता प्रतिभाति भिन्ना ॥२१२॥

घटोऽस्ति भिन्नोऽथ पटोऽस्ति भिन्नो भेदोऽस्ति भिन्नोऽथ तदन्तरेऽपि ।
खमस्ति भिन्नं तदभावभेदः प्रतीयते प्रत्यय एष सर्वः ॥२१३॥
सत्ताप्रभेदादिह वस्तुभेदः सत्ताप्रभेदः प्रतिपत्तिभेदात् ।
स प्रत्ययो भिन्नविधोऽस्ति मायावशेन माया तु चितो निसर्गः ॥२१४॥
एकैव सा चिन्निजमाययैवं चतुष्कलं रूपमुपेत्य भाति ।
भूत्वा प्रमात्री, प्रमितिः, प्रमाणं, प्रमेयमित्थं तनुते बहुत्वम् ॥२१५॥
सत्ता पृथिव्या इह पार्थिवेषु साप्येषु चापामथ तैजसेषु ।
सा तेजसो वायुवपुष्षु वायोः सा नाभसोऽद्धा नभसस्तदित्थम् ॥२१६॥
निष्कृष्यते सप्तविधैव सत्ता तत्रापि सा कारणसप्त याप्ता ।
पृथिव्यामपां सात्वनलस्य तस्मिन् वायोरथास्मिन् वियतोऽहि सत्ता ॥२१७॥
प्राणस्य चाकाशमुपैति सत्ता प्राणे नु सत्ता मनसो मनस्तत् ।
चिदेव तज्ज्ञानमिदं हि सत्तामयं न सत्तेह चितोऽतिरिक्ता ॥२१८॥
सत्तोपलब्धिर्धिषणोपलब्धिस्तयोश्च भेदोऽप्युपलब्धिरेव ।
एकोपलब्धिस्त्वमिताऽथ तस्यां यैषा मितिस्तां प्रवदामि मायाम् ॥२१९॥
अस्तौ च भातौ च ममास्तिभात्योरभेदबुद्धिः सह भेदबुद्धिः ।
अस्तीति भातीत्यत एव माया विद्याप्यविद्यात्मनि सास्ति बुद्ध्या ॥२२०॥
ज्ञानं च सत्ता च यदात्मरूपं मितिर्न तत्रास्ति तथापि भाति ।
आश्चर्य्यवत्तामत एव मायां मन्ये ततो भाति विचित्रमेकम् ॥२२१॥

७—आनन्दविज्ञानसत्तानामैक्यम्

द्विधायमानन्द इहास्ति पाप्मा प्रसङ्गतो या परमस्ति शान्तिः ।
स एव मुख्योऽथ रसप्रवेशान्मृत्यावुदेति क्षणिकःप्रसादः ॥२२२॥
आनन्द एवामृतमस्ति यस्मात्संसृज्य तस्माद्रसमेष मृत्युः ।
यावन्नमात्मानमुपैति तावानानन्द आत्मा विभवेषु तेषु ॥२२३॥
शरीरमादौ वनिता तनूजः क्षेत्रं हिरण्यं पशवो गृहाणि ।
हस्त्यश्व-दासा महिमा-ऽऽत्मनोऽयं यत्रैष आत्मा विभवेद्विजानन् ॥२२४॥
यावद् विजानाति ममेदमेव वित्तं स तावानहमस्मि चेति ।
सा तावती तृप्तिरमुष्य तस्माद् विज्ञानमानन्द इति प्रसिद्धिः ॥२२५॥

विज्ञानमानन्दमितीष्यते वा विज्ञानमानन्द इतीष्यते वा ।
न संशयोऽत्र क्रियतामयं यत् क्षरोऽक्षरे चापि परं निगूढम् ॥२२६॥
विज्ञानमानन्दमितीक्ष्यते वरं विज्ञानमानन्द इतीष्यते परम् ।
ज्योतिस्तु विज्ञानमिदं परं ध्रुवं रसेन भूम्ना न विभिद्यते क्वचित् ॥२२७॥
यतः स आत्मा विभवत्यमीभिर्देह-प्रजा-स्त्री-पशु-मेदिनीभिः ।
संपद्यते तेन महानयं यत् स्वं वैभवं तन्महिमा च संपत् ॥२२८॥
यतो ममत्वं क्रमते तदेषु तेनात्मनोऽहंकृतिरेषु दृष्टा ।
तेषां तदेकस्य च हानितोऽयमात्माऽल्पवद्भाति तदस्य दुःखम् ॥२२९॥
तस्मात् तदेकैककलाविनाशक्रमेण यावत् क्रमते विनाशः ।
आत्मार्तिमायाति सताऽन्तरेणोदरे विभूत्याः स्वमहिम्नि तावत् ॥२३०॥
सार्तिः परार्था मृतिरस्य जन्तोस्ततोऽन्यथाऽनन्दकलासमृद्धिः ।
मृत्युर्न चेत्तर्हि मताऽस्य सत्ता सत्यैव साऽनन्द इतीष्यते तत् ॥२३१॥
सैवोपलब्धिर्यदिहास्ति यद्वा यल्लभ्यते यत्तदिहास्ति सत्ता ।
यद्भाति सिद्धास्तिरथास्ति सिद्धा भाति रसस्तूभयसिद्ध एषः ॥२३२॥
न भाति पूर्वाऽस्तिरथास्तिपूर्वा न भातिराभ्यां न विना कृतो वा ।
रसोऽपि शक्यते मतं तदेकमव्याकृतं व्याक्रियते त्रिधा यत् ॥२३३॥
आनन्दविज्ञानरसप्रतिष्ठास्त्वेकत्वमित्थं यदुदाहरन्ति ।
तच्चाविनाभाववशेन बोध्यं न चान्यदन्येन विना कृतं स्यात् ॥२३४॥
ज्योतिः प्रतिष्ठा विधृतिश्च भिन्नाः शक्यं न वक्तुं न विचिन्तितुं वा ।
किं स्यादभातं कथमप्रतिष्ठं भावान्नभायादधृतं न च स्यात् ॥२३५॥
एकैकसत्ता प्रथते यदेषां तस्मात् त्रयं तत्पुनरेकमिष्टम् ।
विज्ञानमेषां त्रिविधं पृथक्स्यात्तस्मात् त्रिधा व्याक्रियते तदेवम् ॥२३६॥
सत्ता प्रभिन्ना प्रतिपत्तिभेदतः सत्ताप्रभेदादमिधा प्रभिद्यते ।
रसस्तु भिद्येत तयोः प्रभेदतस्तथा च सामान्य-विशेषसम्भवः ॥२३७॥

८—श्रमणकमतेऽस्तिभात्यानन्दानां-प्रत्याख्यानान्निर्विशेषस्य कर्मैकमात्रत्वम् ।

परे विदुर्द्वैतमिदं न युक्तं निःशेषशक्तिप्रचयस्तु सत्ता ।
यदीष्यते तर्हि ततो न भिन्नं ज्ञानं न वानन्द इतोऽस्ति भिन्नः ॥२३८॥

या चेतना शक्तिधृतोऽयमन्योऽथानन्द एषोऽपि च शक्तिसंघः ।
न कर्म्मणो ब्रह्म पृथक् पदार्थः कर्म्मैव विश्वं तदिति प्रतीमः ॥२३९॥

९—ब्राह्मणमते निर्विशेषस्य ब्रह्मैकमात्रत्वम्

इत्थं वदन्ति श्रमणा न तेषां मते मतं ब्रह्म किमप्यखण्डम् ।
ये ब्राह्मणास्ते तु भृशं विविच्य ब्रह्मैव सर्वप्रभवं वदन्ति ॥२४०॥
इच्छात उतिष्ठत एतदङ्के बलं ततो वाक्प्रभृतिप्रचारः ।
तथैव तद्ब्रह्मत एव कर्म्मोद्भवत्यतः सर्वजगत्प्रसारः ॥२४१॥
ब्रह्मैव तस्मादविशेषमेकं ततो विशेषाः पुरुषास्त्रियो ये ।
तद्विग्रहा ये त्रय एतदेषां त्रयं सहस्थं जगदेतदाहुः ॥२४२॥

१०—निर्विशेषस्य सच्चिदानन्दत्वोपपादनम्

अथाहुरेके यदि च त्रिरूपं ब्रह्मेष्यते तर्हि कुतोऽविशेषम् ।
तदुच्यते सन्निहिते विशेषा विज्ञानमानन्द इयं च सत्ता ॥२४३॥
अत्र ब्रवीमि प्रतिपत्तिभेदा इमे त्रयस्तेन न वस्तुभेदः ।
भ्राता पिता पुत्र इति व्यपेक्षाभेदेऽपि न व्यक्तिविभेद इष्टः ॥२४४॥
कर्म्मप्रभेदाद्बहुधोपचारो भृत्यो गुरुः पालक एष एकः ।
शान्तो रसश्चित् स यदा समृद्धश्चिते प्रवेशात्तु वदन्ति सत्ताम् ॥२४५॥
रसो रसं चेतयते चितेऽस्मिन् रसे रसस्तिष्ठति सैव सत्ता ।
स कर्म्मभेदाद् रस एक एवोपदिश्यतेऽनेकविधोपचारैः ॥२४६॥
रसो बलं यत् स्वत उत्थितं तत् प्रोत्थाय तत्रैव सदा स्थितं स्यात् ।
लिनाति तत्रैव ततस्तदेकब्रह्मैव तस्माद्बलतोऽस्ति नाना ॥२४७॥

११—बलवद्रसस्याद्वैतत्वोपपादनम्

रसे निगूढं स्थितमेव काले बलं समुत्थाय लिनाति तस्मिन् ।
असद्बलं वाथ रसादपूर्वं प्रोद्भूय नश्येदिति च प्रवादः २४८॥
रसः क्रिया नास्ति रसे क्रिया चेत् प्राग् नास्ति नास्याः प्रसवःस्वतःस्यात् ।
तस्माद्रसेऽपानवृत्तिगूढं बलं स्वतः प्राणनतो विभाति ॥२४९॥
असद्बलस्योदयमित्थमेके ह्यसम्भवान्नाभ्युपयन्ति किन्तु ।
न ब्रह्मणस्ते महिमप्रभावं विदन्ति सर्वप्रसुवोऽव्ययस्य ॥२५०॥

बलान्यपूर्वाणि रसाद् भवन्ति क्षिणोति किन्त्वेष रसो न तेन ।
आश्चर्य्यवच्छान्तरसादशान्ताद्बलं समुद्भूय विलीयतेऽस्मिन् ॥२५१॥
यथा तथा वास्तु रसे बलं तन्निगूढमस्त्वेव तथापि तेन ।
न द्वैतमाशङ्क्यमसद्बलं तत् सदाश्रयस्यैव तु सत्तया सत् ॥२५२॥
उष्णीयवासोवरतन्तुतूलमृद्भेदप्रतीतावपि वस्तुसत्तया ।
शीर्ष्ण्यर्पाहितं वस्तु न भिद्यते हि तेष्वेकैव सत्तानुगता प्रतीयते ॥२५३॥
सत्तां हि संख्यानुरुणद्धि तत्स्वतः सत्ता न या चास्ति न तत्पृथक्त्ववत् ।
रसस्य सत्तामनुगृह्य सद्बलं स्वतोऽसदित्यस्त्युभयं तदद्वयम् ॥२५४॥
बलं स्वतः सन्न पुरस्तदुद्भवादसत्परस्तादसदन्तरे स्थितौ ।
अन्याश्रितं सत् तदसत्स्वतो भवेदद्वैत तस्मिन् बलवद्रसे ततः ॥२५५॥

१२–निर्विशेषाद्वैतवादमतत्रयम्

अद्वैततायां ब्रुवते मतत्रयं ब्रह्मैकमेवाद्वितयं रसो हि सः ।
अपूर्वमस्माद् बलमुद्भवत्यसत् पुनः क्षिणोतीति मतं सदग्रियम् ॥२५६॥
रसाद्बलं नास्ति पृथक् बला न वा शून्यो रसोऽस्तीत्युभयं सहैकवत् ।
तथापि चात्यन्तिकगत्यभावतो गत्यात्मकं भिन्नविधं बलं रसात् ॥२५७॥
रसो बलं च द्वितयं सनातनं जगत्समस्तं बलवद्रसादभूत ।
व्यासज्ज्यवृत्या तु रसे बलान्विते सत्ता सदैकेति मतं तु मध्यमम् ॥२५८॥
नार्थो रसः कश्चन विद्यते पृथग् निःशेषमेतद्बलमेव संचितम् ।
प्रशान्तवद्भाति श मीक्रियावशात्क्षोभस्तु वैषम्यमहस्ततो जगत् ॥२५९॥
शक्तिर्बले शक्तिघनस्य देशतस्त्यागो बलं तां गतिमत्र चक्षते ।
आत्यन्तिकीमत्रगतिं रसं विदुर्न गत्यभावः स रसो गतः परः ॥२६०॥
बलस्य सर्वस्य विचालिनोऽप्यलं मिथः प्रतीघातवशात्स्थितिः समा ।
इत्थं रसः सर्वबलैकसंचयात्मको न तद्भिन्न इतीतरे विदुः ॥२६१॥
इत्थं मतेषु त्रिपु नास्ति निर्णयो यथा तथा वास्तु तथापि न क्षतिः ।
सर्वेषु रूपेष्वपि सर्वथा समं तदेकमूलादिह सृष्टिसम्भवः ॥२६२॥

१३–ब्राह्मणसिद्धान्ते द्वैतोपपादनम्

ये ब्राह्मणास्ते तु रसं पृथग् विदू रसं विना न स्थितिगर्भता बले ।
विना स्थितिं गर्भगतां बले भवेन्नाल्पाधिकात्यन्तिकतादिधीः क्वचित् ।२६३।

बलं बलं नाशयते बलद्वये नष्टेऽथ या शान्तिरिह प्रतीयते ।
बलात्परः सोऽर्थ इमं रसं विदुर्विधिं बलानां रसमाहुरग्रियाः ॥२६४॥
रसेऽस्ति यावद्बलमर्पितं न तत्ततः पृथग् बुद्धमपि स्थिरं च तत् ।
किन्त्वात्मनोत्सीदति यत्र तद्बलं रसं त्यजेत् त्यक्तरसं बलं गतिः ॥२६५॥
गच्छन् जनः श्राम्यति तत्र तद्बलं तदित्यया त्यक्तरसं विनश्यति ।
आत्मा रसस्तत्र न हीयते पुनर्बलं स गृह्णाति रसान्तराददन् ॥२६६॥
बलं स्वतःपूर्णमपेक्षते न तद्बलान्तरं भोक्तुमशून्यगर्भकम् ।
बलोदरस्त्वेष रसो बलक्षये शून्योदरं भर्तुमपेक्षते बलम् ॥२६७॥
खण्डैर्बलैः खण्डमयोऽस्तु खण्डवान् बलैरखण्डोन्वथवा रसोऽस्त्वयम् ।
रसाद्धि सर्वं भवतीति मन्महे रसे त्वखण्डे प्रतिपत्तिरस्ति नः ॥२६८॥



सुखदुःखोपपत्यधिकरणम्

आत्मनो जगतश्च दुःखमयानन्दमयत्वविचारः

१—आत्मन आनन्दरूपत्वोपपादनम् (६)

भूमाऽणिमा स्यादणिमा च भूमा पृथग् बलोऽयं बलमस्ति यस्मिन् ।
स एक एवास्त्यणिमा स भूमा रसः स आनन्द इति प्रतीयात् ॥२६९॥
यदल्पमल्पं तदिहार्तिमार्तं यथा तु भूमा सुखमिष्यते तत् ।
परस्तु भूमास्त्यमृतेऽतिमात्रे ततः परानन्दमयः स आत्मा ॥२७०॥
भयं हि कम्पः स्थितिविच्यवोऽसौ तत्कर्म्ममृत्युः स इहोपदिष्टः ।
ध्रुवं प्रशान्तं त्वमृतं ततोऽन्यत्ततः सदानन्दमयः स आत्मा ॥२७१॥
भयं मितस्य प्रबलाद् द्वितीयादिदं त्वमात्रामृतमद्वितीयम् ।
न कम्पयोग्यं न ततो वरिष्ठं ततोऽभयानन्दमयः स आत्मा ॥२७२॥
रसोऽन्नमाधीयत आत्मने यत् तृप्तिर्गतिस्तस्य रसस्य दृष्टा ।
विज्ञानमानन्द इतीह तृप्तौ तत्तृप्तिजानन्दमयः स आत्मा ॥२७३॥
सुखं रसो हीति वदन्ति विज्ञा रसं हि लब्ध्वा सुखिता भवन्ति ।
रसोऽमृतं कार्य्यरसानुभावात् ततो रसानन्दमयः स आत्मा ॥२७४॥

२–श्रमणकमतेन पूर्वपक्षे आत्मनो भोग्यानां च दुःखरूपत्वोपपादनम् ।

आत्मायमानन्दमयो यदि स्यात्सदैव सर्वत्र सुखः सुखः स्यात् ।
ज्योतिष्मतो नास्य रवेः कदाचित्संभाव्यतेऽवस्थितिरन्धकारे ॥२७५॥
भोग्यानि सर्वाणि च दुःखरूपाण्येतानि नानन्दमयानि सन्ति ।
यत्प्राप्य हृष्यत्ययमेव पश्चात्तत्राधिकत्वे लभते विरक्तिम् ॥२७६॥
नानन्द आत्मा न च भोग्यजातान्यानन्दरूपाणि मनस्तु भोग्यम् ।
यदाप्तुमुत्कम्पत उक्तमेतद् व्यस्तत्वशान्तिः क्षणिका सुखं तत् ॥२७७॥
सर्वं हि दुःखं यदि दुःखमात्रा निवर्तते तत्सुखमाह लोकः ।
किञ्चित्सुखं नाम न वस्तु मन्ये सर्वं विनश्यत्क्षणवेदनीयम् ॥२७८॥

३–ब्राह्मणमतेन सिद्धान्ते आत्मनो भोग्यजातानां वानन्द-रूपत्वव्यवस्थापनम् ।

प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं ननु लक्ष्यतेऽखिलैर्लोकैः ।
आत्मापि भोग्यमपि चेद् दुःखं प्रतिकूलता तदा न स्यात् ॥२७९॥
अपि बाधनेति लक्षणमाहुर्दुःखस्य गौतमस्तु मुनिः ।
सर्वं दुःखं यदि चेदनात्मनि केनापि बाधना प्रभवेत् ॥२८०॥
आत्मान एकान्ततया समग्रा आनन्दमेवाभिमुखी भवन्ति ।
आनन्दमेते क्वचन द्विषन्ति तस्मात्स आनन्दमयोयमात्मा ॥२८१॥
आनन्दशून्यो हि स दुःख आत्मेत्यानन्दमीप्सत्ययमस्ति नार्थः ।
उक्थं विना नार्क उदेति नेच्छत्यतः स आनन्दमयोक्थ आत्मा ॥२८२॥
आत्मायमानन्दमयोऽस्ति सर्वं चेदं स आत्मैव जगद् यतोऽस्ति ।
तस्मात्तदानन्दमयं च विश्वं भोग्यार्थजातं प्रतिपादयामः ॥२८३॥

४–ब्राह्मणमते सर्वानन्दत्वे लोके प्रतिपन्नस्य दुःखस्योपपादनम्

आत्मा च भोग्यानि च सर्व एवानन्दोऽस्ति चेत्तर्हि कुतस्तु दुःखम् ।
कुतोऽप्रियत्वं च कुतो विरक्तिस्तत्रोच्यते तत्सुखवत्प्रतीयात् ॥२८४॥
येषां मते दुःखमिदं नु सर्वं तेषां कुतः क्वापि सुखप्रतीतिः ।
कुतः प्रियत्वं च कुतोऽनुरागस्तस्योपपत्त्येह कुतोपपत्तिः ॥२८५॥

दुःखं स्वभावः स्वत एव सोऽर्थस्तदर्थबाधस्तु सुखं प्रयत्नात् ।
आजन्मकालादत एव यत्ने कृते सुखार्थेऽप्यसुखं बहु स्यात् ॥२८६॥
इत्थं परे किन्तु वयं वदामो मृत्युर्विनाशः परमं हि दुःखम् ।
सुखं तु यज्जीवति यास्य सत्ता यतस्तु भावोऽस्ति ततः सुखं तत् ॥२८७॥
सुखं स्वभावः स्वत एव सोऽर्थो दुःखं तु दोषेण तदर्थबाधात् ।
कर्म्मान्वयो ब्रह्मणि दुःखहेतुर्य्यथा तु कर्म्मास्ति तथास्ति दुःखम् ॥२८८॥
प्रज्ञापराधोऽखिलदुःखहेतुः प्रज्ञापराधस्त्विह कर्म्मदोषात् ।
सुखं सुयोगादतिहीनमिथ्यायोगैस्तु दुःखानि भवन्त्यविज्ञे ॥२८९॥
आनन्द आत्मापि च भोग्यजातान्यानन्दरूपाणि तयोरिहैक्ये ।
अस्त्यार्थिकानन्दमतिर्यदा तद्विच्छेद आभाति तदस्ति दुःखम् ॥२९०॥
चिरं स तिष्ठत्यपि यत्र देशे तत्रैव भूयो रमते स्वभोगैः ।
ततो बहिष्कारकृतौ त्वमुष्य प्रतीयते चेतसि दुःखभावः ॥२९१॥
तत्रात्मनस्तस्य सतः स्वभोग्ये विज्ञानतो या ममता निविष्टा ।
निवर्तते सा तदिहात्मनस्तद्भोग्यं पृथक् स्यात्तदिहास्ति दुःखम् ॥२९२॥
यान्येव भोग्यानि पुरा सुखानि तान्येव संप्रत्यसुखानि भान्ति ।
भोग्यस्थितात्मा स्थितयोश्च तस्मादानन्दयोरन्तरमेतदाहुः ॥२९३॥
तेनायमानन्दमयस्स आत्मा तेनेदमानन्दमयं च भोग्यम् ।
एकं पुरासीदुदरेऽन्तरे तु कृते भयं स्यात्तदवैति दुःखम् ॥२९४॥
सुखेन भोग्येन सुखोऽयमात्मा न संभवेदेकमयः कचिच्चेत् ।
विशेषदोषादुदरेऽन्तरे तु कृतेन तस्मिन् रमते स दुःखी ॥२९५॥
बहिष्कृतस्त्वेष पुनः प्रदेशे यत्रैव गच्छेन्न रमेत सद्यः ।
अथ क्रमाद्भोग्यकुले स आत्मा ममत्वयोगाद्विभवन् रमेत ॥२९६॥
अक्षैः क्रमाद्भोग्यरसोपलब्धौ ततस्तदेतन्मनसा विचिन्त्य ।
यदात्मनां भावयते तदैक्यात्सुखं तयोरन्तरतैव दुःखम् ॥२९७॥

५—आत्मन एवानन्दत्वं न तु भोग्यजातानामिति मतोपपादनम् (९)

परे ब्रुवन्त्यत्र न भोग्यजातेश्चानन्द एषोऽनु गतोऽस्ति किन्तु ।
आत्मायमानन्द इति स्वकाशैः सर्वं स आनन्दमयं करोति ॥२९८॥

आत्मैव आनन्दमयश्च सत्तामयश्च विज्ञानमयश्च तस्य ।
यथांशरश्मिः क्रमते स्वभोग्ये भोग्यं तथैवोपयुनक्ति तस्मै ॥२९९॥
विज्ञानतस्तद्विषयस्य विद्वानानन्दतस्तत्प्रियतामुपैति ।
स्वत्वं तु सत्ता स उदेति भोग्ये ममत्वमेत्यात्मन एव तेंऽशाः ॥३००॥
आत्मा च भोग्यं न मिथोऽनुबद्धे यतः स कामोऽस्त्युभयाप्ततन्तुः ।
भोग्येऽशनायाऽऽत्मनि भोग्यरूपं तदैक्ययोगः स य एष कामः ॥३०१॥
प्रियोऽस्ति यः कश्चन तत्र हेतुस्तस्यैव कामो न परस्य कामः ।
स्वार्थानुकूलाप्रियता यदात्मा नापेक्षते न प्रिय एष तस्य ॥३०२॥
एकः प्रियः कस्य च कस्यचिद्वा सोऽस्त्यप्रियः कस्यचिदस्त्युदास्यः ।
यथात्मना पश्यति यादृगंशुस्तत्रेति तादृक् स च भाति तस्य ॥३०३॥
आत्मांशरक्तोऽखिल ईक्ष्यतेऽर्थो रागादयस्त्वात्मनि भान्ति धर्म्माः ।
आनन्दमाच्छाद्य निसर्गजं ते विज्ञानजाः के मलयन्ति भोग्यम् ॥३०४॥
निष्काम आत्मा विषयानपेक्षो रागादिशून्यो विषयेष्वसक्तः ।
सर्वं समं पश्यति नायमात्माऽऽनन्दोऽप्यसक्तया प्रियतां विधत्ते ॥३०५॥
योगामयावी च मुमूर्षुरात्मा शून्यं निशानन्दमवैति विश्वम् ।
निस्तेजसं सूर्य्यमवेक्षते तत्स्वानन्दतः सर्व इमे प्रियाः स्युः ॥३०६॥

६—आत्मनो भोग्यजातानामप्यानन्दत्वमिति ब्राह्मणमतम् (१३)

अत्रोच्यते सत्यमिदं यदात्मा स्वानन्दतो रञ्जयति स्वभोग्यम् ।
आनन्दतो रञ्जनहेतुरस्मिन् भोग्येऽपि सानन्दकला त्वपेक्षा ॥३०७॥
भोग्यार्थमानन्दरसो यदात्मानन्देन संयुज्य भवेदभिन्नः ।
तदा प्रियत्वं प्रतिभाति यत्र त्वस्त्यन्तरं तत्र च देहमोहः ॥३०८॥
न केवलं तत्सुखमात्मनीतं तस्य विशेषादसुखाप्रसङ्गात् ।
आत्मेव तस्मादिह भोग्यवर्गोऽप्यानन्द एवेति मतः स भूमा ॥३०९॥
त्यक्त्वाहुरानन्दमयोऽयमात्मा नान्ये तु भोग्या न तथा स्युरेते ।
आत्मीयमानन्दमपांशुमेवाभिव्याप्तमीक्षे मम तु प्रियेऽर्थे ॥३१०॥
नराप्रियस्तेन स दोषदृष्ट्या दृष्टः प्रदुष्टः प्रतिभाति दृग्वत् ।
मूर्च्छा प्रपन्नेषु मुमूर्षुरात्मा पश्यन्निरानन्दमुपैति सर्वम् ॥३११॥

तस्मान्निजानन्दमपांशुयोगादेव स्युरानन्दमयाः परार्थाः ।
ब्रूमो वयं त्वत्र यथा द्विषन्तोऽप्यानन्दपूर्णोऽयमिवास्ति किंतु ॥३१२॥
नानन्दमात्रास्य विभाति तद्वद्भोग्यार्थ आनन्दमयो न भाति ।
जीवा यथानन्दमया अशेषास्तथैव भोग्या अपि सर्व एते ॥३१३॥
प्रियस्तु सर्वोऽपि स दृष्टिदंशानन्दद्वियोगेन तदेकतायाम् ।
आत्मन्यनासाद्य तु भोग्यजातान्निन्दन्निजानन्दवशेन भोग्यम् ॥३१४॥
दृष्टं प्रियं न प्रभवेन्ममात्म ततः स भोग्यार्थकुले प्रयाति ।
यदि स्वरूपेण निजेन भोग्यं प्रत्यग्'''नुपयाति तर्हि ॥३१५॥
पश्यामि रूपं प्रियतापि तद्वद्भोग्यादिहानन्दकलासितः स्यात् ।
भोग्यप्रियत्वानुभवोऽधिशीर्षं भवत्यथानन्दकता तु शीर्ष्णः ॥३१६॥
प्रयाति भोग्यानुदिशं प्रतीयात् कथं ममात्मा प्रियतां प्रतीयात् ।
कामोऽयमात्मांशुरनेन काममात्मा परस्मिन्नुपसृत्य भक्त्या ॥३१७॥
आसज्यते तेन च स प्रियः स्यान्नास्य प्रियः कोऽपि स चेदकामः ।
कामानपेक्षस्त्वथ वायमात्मैवानन्द मायाति यदैव युक्तः ॥३१८॥
एकीभवन् पश्यति विश्वमेवानन्दं स आत्मास्ति विदेहयुक्तः ।

७—आनन्दस्य सर्वमूलत्वम् (६)

स्त्रीपुंसयोर्यत्र न हर्षसम्भवस्तदा न गर्भस्थितिरिष्यते क्वचित् ।
गर्भच्युतिः स्याच्च विषादसंस्रवादानन्दतः सर्वमिदं प्रजापते ॥३१९॥
न जीवने यस्य तु हर्षसम्भवश्चिरं न जीवेत्स इहार्तिसंप्लुतः ।
प्रतिक्षणं जीवति हर्षमात्रया स सर्वतोऽन्नादिह दृष्टिमश्नुते ॥३२०॥
यदोषधीर्वारि यदग्निवायू वाचं बलं ज्ञानमिहान्नमत्ति ।
स सर्वतस्तृप्तिमुपेत्य शश्वद्धर्षं स गृह्णाति स हर्ष आत्मा ॥३२१॥
एतेषु वा सप्तविधेषु भोग्येष्वन्नेषु नानन्दरसो यदि स्यात् ।
आनन्द आत्मा विभिवेन्न तेषु स्याद्वा महान्नैष न तृप्तिमेयात् ॥३२२॥
पाण्यादिहान्यादपि कः क्षणं वानन्दमाकांक्षमिदं यदि स्यात् ।
शृणोति यत्पश्यति वेत्ति यद्वा धृतिस्तदाप्नोति सुखं तदिष्टम् ॥३२३॥
आहारतो वाथ विहारतो वा सा निर्वृतिर्यत्र रमेत लोकः ।
सर्वत्र लोके रमते हि लोकस्तस्मात्स आनन्द इहास्ति भूमा ॥३२४॥

६—भूमाणिम्नोर्विचारः

१—भूमा (१३)

ब्रह्मादिरूपं यदतीव गूढं निर्लक्षणत्वान्न निरुच्यते तत् ।
शक्यं न विज्ञातुमिदं यथावद् यावत्तु शक्यं तदिह प्रवच्मि ॥३२५॥
बृहत्सदा यत्परिवृंहणं यत्तदुच्यते ब्रह्म स एष भूमा ।
प्रतियते सर्वगतोऽप्यलिप्तो रूपं तदेतत् परमं प्रविद्यात् ॥३२६॥
नाम्ना विना किञ्चिदिहास्ति नैतन्नाम्नोऽपि वागेव तु भूयसीयम् ।
वाचो मनस्तन्मनसोऽपि भूयात्संकल्प्य कश्चित्तमतोऽपि भूयः ॥३२७॥
प्रज्ञानविज्ञानबलान्नमापस्तेजोऽन्तरिक्षं स्मर एवमाशाः ।
प्राणश्च भूयान् क्रमतस्तदित्थं परं परं भूयसि पूर्वपूर्वात् ॥३२८॥
प्राणोऽस्ति सत्यं न ततोऽस्ति सत्यं जिज्ञासितव्यं तु यदस्ति सत्यम् ।
विज्ञाय सत्यं वदतीति सत्याद् विज्ञानमेव प्रथमं परीक्ष्यम् ॥३२९॥
मत्वा विजानाति ततो मतिः प्राक् संपादनीया मतिमान् हि विद्यात् ।
श्रद्धोदये तद्विषये मतिः स्याच्छ्रद्धा मतिं तत् प्रथमं विदध्यात् ॥३३०॥
निष्ठां गताः श्रद्धधते ततः प्राग् निष्ठैव कार्य्या न ततः पराक् स्यात् ।
कृत्वा तु निस्तिष्ठति यत्नयोगात् तस्मादिहासौ कृतिमान् पुरः स्यात् ॥३३१॥
यदैव कुर्वन् लभते सुखं चेत्तदा करोतीति सुखं परीक्ष्यम् ।
सुखं तु भूमैव न चाल्पभावे सुखे स भूमा प्रथमोऽवधेयः ॥३३२॥
यत्रान्यदन्यत्प्रतिपद्यते तत्स्यादल्पमार्तं च तदस्ति मर्त्यम् ।
तच्छ्रूयतेऽन्यन्न च दृश्यतेऽन्यद् विज्ञायतेऽन्यच्च न चेत्स भूमा ॥३३३॥
भूमा बहुत्वं परिपूर्णरूपं कामस्तदर्थो न च तत्र कामः ।
कामो ह्यपूर्णे परिपूर्णतायै प्रवर्तते पूर्णतरे कुतः स्यात् ॥३३४॥
भूम्नो रसान्नो पृथगस्ति किञ्चित्सर्वं हि तस्मिन्न च तत्परस्मिन् ।
प्रतिष्ठितः स्वे स महिम्नि भूमा भूमैव भूम्नो महिमा प्रतिष्ठा ॥३३५॥
सोऽधः स ऊर्ध्वं स पुरश्च पश्चात्स उत्तरा दक्षिणतः समन्तात् ।
सर्वं तदेकामृतमद्वितीयं दिक्कालदेशैर्न विमीयते तत् ॥३३६॥
न यत्र खण्डो न च खण्डयोगः स एष भूमा परिपूर्णरूपः ।
यं यं तु पश्यामि स एष सर्वोऽप्यखण्ड एको रस एव भूमा ॥३३७॥

२–अणिमा (३०)

परे तु पश्यन्ति यदत्र दृश्यते सर्वं हि तत्सावयवं प्रदेशवत् ।
सर्वस्य खण्डाः प्रभवन्त्यखण्डता नास्त्यन्ततः कुत्रचिदत्यणोरपि ॥३३८॥
क्षुद्रेऽह्यमत्रे पृथुले वरिष्ठे कूपे तटाके लवणं निदध्यात् ।
सर्वत्र तु प्रत्युदकाणुसाम्यात्प्रसारणं स्याल्लवणस्य लोके ॥३३९॥
क्षुद्रे गृहे या प्रवृद्धे वरिष्ठे कर्पूरखिल्यं विशदे निदध्यात् ।
सर्वत्र साम्यादनुमारुताणु प्रसारिणस्तस्य कणा भवन्ति ॥३४०॥
कर्पूरखिल्यं लवणं तदित्थं महावकाशेऽथ महासमुद्रे ।
यत्प्रक्षिपेत् तद्धि भवेत्तनिम्ना ततोऽस्ति नान्तःपरमाणुखण्डे ॥३४१॥
परे पश्यन्ति यदत्र दृश्यते प्रदेशवत्सर्वमथापि तद् द्विधा ।
खण्डान्विताः सावयवाः कचाणवः क चित्त्वखण्डा अणवोऽपि सन्ति ते॥३४२॥
परे तु पश्यन्ति यदत्र दृश्यते सर्वं सखण्डं चरमस्तु तस्य यः ।
खण्डोऽस्ति खण्डस्तु न तस्य संभवत्यस्य प्रदेशोऽवयवश्च नेष्यते ॥३४३॥
महर्षयस्त्वाहुरखण्डता वा सखण्डता वास्ति च नास्ति चेति ।
बलात्सखण्डोऽपि रसादखण्डे सर्वत्र बुद्धिर्द्विविधा समीची ॥३४४॥
बलं मितं तेन हि खण्डवत्कृतं प्रदृश्यते सर्वमिदं पृथक् पृथक् ।
बलव्यवाये तदखण्डमेकवत्स एकसिन्धुर्बहुभङ्गवान् यथा ॥३४५॥
यदप्रवर्त्यावपनं रसं तं भूमानमाकाशमनन्तमाहुः ।
अक्षुब्धरूपं न च मीयते तद्दिग्देशकालैरपि संख्ययापि ॥३४६॥
तत्राणिमानो बहवः प्लवन्ते भूमन्यमुष्माद् बलतः प्रपन्नाः ।
उदेति तत्रान्यबलं रसेनाणिम्नाऽन्वयात् तत्सदिवाणु रूपम् ॥३४७॥
भूताणु यत्रास्ति न तत्र बिन्दौ भूताणु किञ्चित्प्रविशेत्कदाचित् ।
बलानि भूयांस्यपि किन्तु तत्र संसर्गमायान्ति तदेकबिन्दौ ॥३४८॥
संसर्गभेदा अपि सन्त्यनेके भेदो बहुत्वं च कुतोऽप्युपैति ।
यदैक्यमायान्ति बलानि तत्र ग्रन्थित्वभसानि भवेदणुः सः ॥३४९॥
भूताणवो ग्रन्थनकृद्बलक्षयाद्विखण्डिताः स्युः परमाणवः पृथक् ।
ते चाणवो ग्रन्थिविमोकतः क्रमादभिद्रुताः पुद्गलतां त्यजन्ति हि ॥३५०॥

आकाशवत्सर्वगते रसे पुनर्विलीयमानाः प्रभवन्ति सोऽणिमा ।
एषोऽणिमा सोऽस्ति रसो य उच्यते भूमा विभुर्यो बहिरन्तराततः ॥३५१॥
रसं च भूयांसि बलानि सत्रा गृह्णाति यत्पश्यति किञ्चदर्थम् ।
रसात् तदेकत्वमुदेति तस्मिन् बलस्वभावात्परिवर्तनानि ॥३५२॥
क्षुद्रेऽप्यमत्रे विशदे वरिष्ठे कूपे तटाके लवणं निदध्यात् ।
सर्वत्र तु प्रत्युदकाणुसाम्यात्प्रसारणं स्याल्लवणस्य मन्ये ॥३५३॥
क्षुद्रे गृहे वा प्रवृढे वरिष्ठे कर्पूरखिल्यं यदि वा निदध्यात् ।
सर्वत्र सम्पादनुमारुताणु प्रसारिणस्तस्य कणा भवेयुः ॥३५४॥
कर्पूरखिल्यं लवणं तदित्थं महावकाशे च महासमुद्रे ।
यत्प्रक्षिपेत् तद्विभवेत् तनिम्ना तदेव रूपं विभु सोऽणिमा स्यात् ॥३५५॥
भूताणुभिन्ना पुरुषाश्च खण्डितास्तृप्यन्ति नानात्मकतां व्रजन्ति ते ।
खण्डाश्च सम्पूज्यमिति व्यतिक्रमादेकात्मतां यान्ति बृहन् स जायते॥३५६॥
इत्थं तदल्पाल्पमिति क्रमाच्च प्रवृद्धरूपः क्रमशोऽन्ततो यः ।
उच्छेदतः सर्वमितेरमात्रो ऽवशिष्यते पूर्णरसः स भूमा ॥३५७॥
आपः समुद्राद् रविरश्मिनोत्थिता दिवं गता भूमितलेऽनुवर्षिताः ।
प्राच्यः प्रतीच्यः परितः प्रवाहिताः समुद्रमेवानुविशन्ति सर्वतः ॥३५८॥
सर्वा हि तास्ताः सहितः समुद्रादुद्भूय भूयोऽप्यपियन्ति तस्मिन् ।
समुद्रभूता न पृथक्स्वरूपैस्ता लक्षिताः स्युश्च्युतरूपसंज्ञाः ॥३५९॥
एवं प्रजाः सर्वविधा हि तास्ता यतः प्रजाता अपियन्ति यत्र ।
यत्राप्य ये वाच्युतरूपसंज्ञाः पृथक्स्वरूपैर्न च लक्षिताः स्युः ॥३६०॥
यथाम्भसां राशिरयं समुद्रो भूमा समुद्रोऽपि तथाऽस्त्यणिम्नाम् ।
सर्वेऽणिमानो बहुखण्डक्लृप्तास्तेषां नु राशिः स रसोऽस्ति भूमा ॥३६१॥
स एष सर्वप्रभवः प्रतिष्ठा परायणं सर्वगतं च सूक्ष्मम् ।
यस्मिन् प्रजास्ता, सकला अपीता विवेकमन्तर्न पुनर्लभन्ते ॥३६२॥
यथेह नानाकुसुमाहता रसा मधुकृतानात्मविवेकमीक्षते ।
तत्सत्यमात्मा स परः स एषः मैतदात्म्यं त्विदमस्ति सर्वतः ॥३६३॥
यथेह तोये लवणं विलीयते यावज्जलं तद्विभवत्यलं समम् ।
अत्रैव तन्नात्र किलेति नोदके निभालयन्तेऽत्र तथाणिमा रसः ॥३६४॥

यथा तरोरस्य रसः स्रवत्ययं मूले च मध्ये च तदग्रके समम् ।
रसेन जीवेन्न मना समीहते तथा रसेनेदमनन्तविश्वकम् ॥३६५॥
शाखां प्रशाखामपि यामयं रसो जीवस्त्यजेत्सा म्रियते विशुष्यते ।
तथाऽमुना येन रसेन विच्युतं जगत्यलं कर्म्म बलं विनश्यति ॥३६६॥
फले वटस्याणुतरा हि धाना धानासु रूपं यददृश्यमस्ति ।
निभालयन्ते नयमत्र यत्नादेषोऽणिमा तस्य वटः प्रजज्ञे ॥३६७॥

१०—बाधाधिकरणम्

११—इतरवादसमन्वयविचारः

१—सदसद्वादानुगमः (१)

अयं रसः सन्न सदत्र तद्बलं सतोऽसतश्चाऽन्वयतोऽभवज्जगत् ।
तदस्ति सर्वं सदसज्जगत्ततो विज्ञानमेतत्सदसन्निरुच्यते ॥३६८॥

२—अमृतमृत्युवादानुगमः (७)

अदेशकालानुगता गतिर्या सोच्छित्तिरस्यास्तु विपर्य्ययो यः ।
स्थितिं विदुस्तां हि गतिस्थिती ते बलं रसश्चेति वदामि नाम्ना ॥३६९॥
मृत्युर्बलं वाथ रसोऽमृतं वा संज्ञायते नित्ययुते उभे ते ।
स्थितोऽमृते मृत्युभृतेनाक्रान्तो न मृत्युर्म्रियते ततोऽयम् ॥३७०॥
रसोऽमृतं तत्खलु निर्विशेषं मृत्युर्बलं तद्धि विशेषमात्रम् ।
यदा विशेषा बहवोऽविशेषेऽध्याता निरस्ताः स्युरिदं जगत्तत् ॥३७१॥
मृत्युप्रसर्गादमृतं तदित्थं नानाविधं भाति बलान्वयेऽपि ।
उच्छित्तिधर्म्मैव बलं ततस्तन्नास्तीति न द्वैतमिदं रसस्य ॥३७२॥
यत्किञ्च कुत्राप्यभवत् तदेतन्मृत्योरमुष्यामृतयोगतोऽभूत् ।
मृत्योरिदं बन्धनमस्ति विश्वं मृत्योर्विमुक्तावमृतं विशुद्धम् ॥३७३॥
तत्त्वे इमे द्वे जगतोऽस्य हेतुर्गतिर्हि यान्त्येव दधाति रूपम् ।
स्थितिश्च तिष्ठन्त्यनिशं ततो द्वे गच्छत्प्रतिष्ठद् भवतोऽविरोधात् ॥३७४॥
उच्छिद्यमानं बलमाह नित्यं रसः प्रतिष्ठा द्विविधो रसः सः ।
उच्छिद्यमानेन बलेन मुक्तो बलेन मुक्तस्य रसस्य धर्ता ॥३७५॥

३–आवरणवादानुगमः (८)

बलेन भुक्तो रस एव सर्वं विकारि कार्य्यं विविधं ससीमम् ।
बलं वयोनाधमिदं रसस्तु स्याच्छादितस्तेन वयस्तमाहुः ॥३७६॥
इत्थं वयोनाधविधोदरस्य प्रपूर्तये कोऽपि रसो नियुक्तः ।
रसोदरं त्वन्यरसो बलं तद्धत्ते बले नैष कृतोदरोऽन्यः ॥३७७॥
रसोदरं यो हि बलं रसोऽन्यो धत्ते प्रतिष्ठा स रसोऽस्ति वाच्या ।
अस्तीति शब्देन बलं रसाक्तं प्रतिष्ठितं प्राह रसान्तरेऽस्मिन् ॥३७८॥
सत्ताप्रतिष्ठाबलभद्रसोऽथानन्दो रसोऽन्तर्निहितो बलेऽस्मिन् ।
रसे बहिः प्लाविनि यत्र भिन्नो रसोऽन्तरा याति हि चेतना सा ॥३७९॥
भूमायमानन्द इहाणिमास्ते रसो बलच्छन्दित एष किंतु ।
छन्दोऽल्पकं दुःखमथोद्धरंश्चेच्छन्दो महद्याति तदा मुदीक्ष्या ॥३८०॥
यथा यथोद्धृत्य रसः स आत्मा छन्दोऽल्पमल्पं श्रयते महत्तत् ।
तथा स भूमाऽणिमतो निवर्त्य स्वरूपमानन्दमयं दधाति ॥३८१॥
छन्दो हि मृत्युः स हि पापबन्धो दुःखं मुहुस्तत्परिवर्ततेऽस्मिन् ।
पूर्वोद्धृतौ यावदिहोत्तरस्याः परिग्रहस्तावदुदेति मोदः ॥३८२॥
उच्छिद्यमानं तु बलं रसेनानुगृह्यते चेत्त इमेंऽशवः स्युः ।
सा चेतनाऽत्मांशुरसोऽद्य तस्मिन् सत्ता रसोऽन्यस्य गतः स बोधः ॥३८३॥

४–अहोरात्रवादानुगमः

ज्ञानं प्रकाशः स रसोऽस्त्यहस्तत् क्रिया तमिस्रा बलमस्ति रात्रिः ।
बलोदये रात्रिरियं जगद्यत् कर्म्मातिमुक्तिर्विरजा रसोऽहः ॥३८४॥

१–उपासनाधिकरणम्

विशेषानुगतनिर्विशेषस्योपासनाविचारसच्चिदानन्दभावना (९)

यदस्ति मृत्यूपहितं प्रशान्तं मृत्योः पृथग् वस्त्वमृतं नु किञ्चित् ।
न ज्ञायते नैव निरुच्यते तन्नोपास्तिरेतस्य मनोऽतिगत्वात् ॥३८५॥
बलैरशेषैस्तु विशिष्टमेकं यदस्ति यस्मिन् सहचारिभावात् ।
बलान्यशेषाणि भवन्ति भूत्वा तिष्ठन्ति तत्रैव पुनर्लिनन्ति ॥३८६॥

नृत्यन्त्ययोमानित यावदस्मिन् चितिप्रसंगात् विधृतानि भूत्वा ।
भूम्नोऽणिमानं जनयन्ति तावन्नोपासना तस्य यथावदस्ति ॥३८७॥

अज्ञेयतानिर्वचनीयता वा सम्भाव्यते क्वाचिदुपासनाऽस्य ।
यद्यन्नुपश्यामि न तन्न तत्तत् तन्नेति नेतीति च वास्त्युपास्ति ॥३८८॥

चितिप्रसंगात् त्विह सृष्टिकाले विशेषरूपेष्वखिलेषु सत्सु ।
यः सोऽविशेषोनुगतस्त्रिधा तं ह्युपास्महे भावनया गृहीतम् ॥३८९॥

क्षोभैरयं शान्तसमुद्र आढ्यो विनश्यतामप्यविनाश एषः ।
भावान्यभावैरपि योऽस्ति पूर्णो भूमानमानन्दमुपास्महे तम् ॥३९०॥

नान्तर्बहिर्यच्चयनाः स्युरर्था अन्तश्चितैर्यस्य भवन्ति पिण्डाः ।
बहिश्चितेर्ज्ञानमयः प्रकाशोऽस्त्युपास्महे तं चितमेकमस्मिन् ॥३९१॥

सृष्टे च सृष्टे च पृथक्प्रविष्टो नानारसेष्वेकरसा प्रतिष्ठा ।
सर्वेषु यो यत्र च सर्वमेतत्सद्भूतमेकं तमुपास्महेऽस्मिन् ॥३९२॥

स सच्चिदानन्द इतोऽस्ति भिन्नः स सच्चिदानन्द इदं समस्तम् ।
स सच्चिदानन्द इहास्मि सोऽहं तमेव सर्वत्र विभावयामि ॥३९३॥

२—सच्चिदानन्दस्य निर्विशेषत्वपरात्परत्वभावनाभिर्विकल्पः (५)

इत्थं त्रिधा भावनया गृहीतो यः सच्चिदानन्द इति प्रसिद्धः ।
स निर्विशेषोऽस्ति परात्परो वा परोऽथ वेति त्रिविकल्पमाहुः ॥३९४॥

तत्रामृतं मृत्युसमन्वितं तद्रूपं त्रिधायाति ततोऽव्ययं तत् ।
मिथश्च सत्ता-चिति-शान्ति-भेदान् विलोक्य केचिद्विदुरव्ययं तत् ॥३९५॥

अथाव्ययं प्राणमनोवचोभिर्विना न चेदस्तु परात्परं तत् ।
भूमानमव्याकृतनिर्विशेषं तमव्ययं पूरुषमन्तरा तत् ॥३९६॥

सत्ता चितिः शान्तिरिति प्रभिन्नास्तिस्रो धियो वस्तु तु न प्रभिन्नम् ।
भूमा ह्ययं कोऽप्यविशेष एकः सम्भाव्यते मृत्युमयामृतात्मा ॥३९७॥

अथापि वा यः परमेश्वरोऽयं स सच्चिदानन्द इति प्रसिद्धः ।
सोऽस्त्यव्ययो नाम तदन्तरेऽन्यः परात्परस्तत्र स निर्विशेषः ॥३९८॥

३—सच्चिदानन्दस्य त्रिविधा प्रतिपत्तिः

निर्विशेषत्रैविध्ये सच्चिदानन्दस्य द्वितीयत्वम् (६)

नाम्नोऽपि रूपादपि कर्म्मणोऽपि व्यावर्तते यः स हि निर्विशेषः ।
नाम्नो न रूपान्न च कर्म्मतो यो व्यावर्तते सोऽपि च निर्विशेषः ॥३९९॥
अस्पृष्टकार्त्स्न्योऽस्ति स निर्विशेषो यो नामरूपाखिलकर्म्मशून्यः ।
अथापरोऽशेषविशेषरूपो विश्वाभिधः संहतभाव एकः ॥४००॥
ससर्वनामा स च सर्वरूपः स सर्वकर्म्मेति य एष भूमा ।
उद्बुद्धसर्वावयवो विमुग्धाशेषव्यवच्छेद इति द्विधा सः ॥४०१॥
उद्बुद्धसर्वावयवो महेशः प्रवक्ष्यते विग्रहलक्षणः सः ।
सत्ता सच्चिदानन्दमयस्त्वखण्डोऽव्यावृत्तरूपः पृथगुच्यतेऽयम् ॥४०२॥
सदास्ति सर्वं निखिले हि सत्ता चिदस्ति सर्वं प्रतिभाति हीदम् ।
आनन्द एवाखिल एष शान्तः क्षुब्धोऽप्यनुद्विग्नमिथोऽन्वितैकः ॥४०३॥
सत्ता चिदानन्द इति प्रतीतः परात्परो यः परमेश्वरोऽयम् ।
अपूरुषः पूरुषलक्षणात्सोऽतिरिक्त एवेति वदन्ति केचित् ॥४०४॥

१—परत्रैविध्ये सच्चिदानन्दस्य प्रथमत्वम् (२)

यद्वाऽव्ययः पञ्चरसोऽस्ति तस्मिन् विवारसंवारचितिद्वयी या ।
अर्वाक्चितिप्रत्ययमहेशतोऽन्यः पराक्चितिप्रत्ययमहेश्वरोऽस्ति ॥४०५॥
स पारसाक्षी परमेश्वरोऽन्यो महेश्वराद् विग्रहलक्षणात्स्यात् ।
अवारसाक्षी परमेश्वरोऽयं ताभ्यामसाक्षीपृथगित्थमेके ॥४०६॥

परात्परस्य त्र्यवस्थत्वे सच्चिदानन्दस्य मध्यमावस्थत्वम्

न वापि यस्य द्विविधत्वमित्थं प्राणो मनो वाक् सयुगेव सत्ता ।
सत्तामयो विग्रहलक्षणोऽपि स्यादेक एवेति विभावयामः ॥४०७॥
अस्तीति धीस्तन्मन एव सत्ता बलानि भूयांसि सयूञ्जि सत्ता ।
वाग् वस्तु तद्वस्तुमयी च सत्ता सत्तैव विश्वं परमेश्वरः सः ॥४०८॥
व्यावृत्तसर्वाव्ययनिर्विशेषोऽव्यावृत्तसर्वाव्ययनिर्विशेषः ।
महाव्ययो विग्रहलक्षणश्चेत्येवं त्रिधैकः परमेश्वरोऽस्ति ॥४०९॥

आद्योऽत्र विश्वानभिमान्यखण्डोऽनामाप्यरूपश्च स कर्म्मशून्यः ।
अन्यः स खण्डोऽखिलविश्वसाक्षी स नामरूपाखिलकर्म्मशून्यः ॥४१०॥
विश्वाभिमान्यप्यपरस्तु खण्डः स विश्वरूपोऽखिलनामकर्म्मा ।
इत्थं विशेषोऽपि स एक एवावस्थाविभेदेऽपि न वस्तुभेदः ॥४११॥
शान्तिः प्रथमावस्थाऽऽनन्दश्चिदमुष्य मध्यमावस्था ।
सदितितृतीयावस्था तत्र हि चित्तत्र चानन्दः ॥४१२॥
सोऽस्ति ह्यनुद्बोधितसर्वशक्तिः प्रोद्बुद्धसाम्यस्थितसर्वशक्तिः ।
उद्बुद्धविक्षिप्तसमस्तशक्तिश्चक्रं त्र्यवस्थाकृतमस्ति शश्वत् ॥४१३॥
इत्थं त्रिधा सम्प्रतिपन्नभावेष्वाद्यो मनोवाग्गतिगोऽस्त्यशक्यः ।
परात्पराख्यं तु मनो द्वितीयं वक्ष्ये तृतीयं पुरुषं त्रिभक्तम् ॥४१४॥

४—अथ सिंहावलोकः (८)

प्रत्यक्षमीक्षे बलमेव सर्वं बलाश्रयत्वेन रसं प्रपद्ये ।
एकं तमक्षुब्धमखण्डमीक्षेऽविचालिनं सर्वबलेतरत्वात् ॥४१५॥
न सर्वदा तद्धि बलं प्रतीमः प्राङ्नास्ति, तत्रास्ति, पुनश्च नास्ति ।
कुतस्तदुक्थं क्वगतं कुतस्तद्बभूव चेत्यस्ति परो विचारः ॥४१६॥
नान्यो बलादस्ति रसोऽप्रतीतेरित्थं विदुर्ये श्रमणाः पुरात्वे ।
ब्रह्माऽऽह तान् देवगुरुः प्रतीयाद्रसं बलाढ्यं बलतः पृथग्वत् ॥४१७॥
गतिस्वभावं हि बलं जगत्तु प्रयत् स्थितं भाति न च स्थितिः सा ।
गतौ प्रतीताऽन्नमनाश्रयं स्यात् तस्मात् प्रतिष्ठा रस इष्यतेऽन्यः ॥४१८॥
रसाद्विना ह्यस्य बलस्य न स्यादुत्थानमाकस्मिकमप्रतिष्ठम् ।
रसं तु तं ब्रह्म वदामि तस्य प्रबृंहणं स्यादतुलः स्वभावः ॥४१९॥
नितान्तशान्तस्य हि खण्डदेशे निर्हेतुकः क्षोभ उदेत्यथापि ।
अक्षुब्धता वा परिपूर्णता वा रसस्य नाहीयत बृंहणं तत् ॥४२०॥
क्षोभो बलं तत्र विनश्यमानेऽप्येषोऽविनाशी प्रभवो लयश्च ।
बिभर्त्ति सर्वं बलमेष तस्माद् भर्म्मैव तद्ब्रह्म रसं वदामि ॥४२१॥
इत्थं रसं ब्रह्मपदेन पूर्वं निरूप्य यो व्याहरदेतदाख्याम् ।
ब्रह्माख्यया सोऽप्यभवत्प्रसिद्धः स्मो ब्राह्मणास्तस्य मते प्रतीताः ॥४२२॥

५—रसबलगीतिः (७)

रसो वा बलं वा द्वयं सृष्टिरूपं रसात्केवलाद्वा बलाद्वा न सृष्टिः ।
रसो वा बलं वा पृथग् दृश्यतेऽलं स्वरूपं तयोः किन्तु शक्यं न वक्तुम्॥४२३॥
घृते मधुनि पायसे गुडसितोपलासशर्करादिके
मधुरिमा पृथग्बहुविधोत्सः स्वाद्यते ।
न तस्य पुनरन्तरं किमपि शक्यते भाषितुं
तथैव स रसो बलादनुभवैकगम्यः पृथग् ॥४२४॥
सत्ता रसो यद्धि बलं न तद्रसः संख्यारसे तिष्ठति नारसे क्वचित् ।
रसेन चात्मन्विबलं बली रसो ह्येकस्ततो ब्रह्म मनस्तदद्वयम् ॥४२५॥
रसो निर्विशेषो बलं निर्विशेषं पृथक् तच्च तच्चास्त्यविज्ञेयरूपम् ।
तयोः षड्विकल्पोऽस्ति योगोऽत्र हेतुर्न विज्ञायते नापि शक्यः स वक्तुम्।४२६।
रसे तद्बलं वा बलेऽसौ रसो वा तयोरेकता वा पृथक् ते उभे वा ।
रसोऽन्यो बलाद्वा बलं नैतदन्यत् तदात्मत्वमेषोऽन्वयः षड्विकल्पः ॥४२७॥
यत्त्विदं रसबलान्वयादभूद् रूपमद्भुतमजं परोऽवरम् ।
श्वोवसीयसमवारपारगं कथ्यते मन इदं परात्परम् ॥४२८॥
सोऽयं भूमा सोऽणिमा सर्वयोनिः सर्वस्मिंस्तत्सर्वमेतच्च तस्मिन् ।
तस्मादेतत्संबभूवाथ तस्मिन्निष्ठा सोऽयं सच्चिदानन्द आत्मा ॥४२९॥
इतः सच्चिदानन्दतोऽवारपरिणतः पूरुषाः स्युस्त्रयो विग्रहो वा ।
य एते त्रयो विग्रहा ग्रासरूपास्तदेतज्जगद्भाति तद्ब्रह्म सत्यम् ॥४३०॥

उपसंहारः (४)

यो निर्विशेषस्त्रिविधोऽस्ति तत्रानुद्बुद्धनिःशेषबलो न शक्यः ।
वक्तुं न विज्ञातुमलक्षणत्वाद् दिगाद्यमानाच्च विरम्यते तत् ॥४३१॥
योऽबन्नवद् विश्वविकासतः प्रागुद्बुद्धसाम्यस्थसमस्तशक्तिः ।
संसर्गशून्यैरचितैरबद्धैर्बलैरशेषैः सहितो रसः सः ॥४३२॥
उद्बुद्धविक्षुब्धसमस्तशक्तिप्रपञ्चहेतुं तमतः प्रवक्ष्ये ।
अकारणं कारणकारणं वा तमेव मन्ये परमेश्वरो वा ॥४३३॥
एकं मनस्तत्पुनरत्र नाना मनांसि जीवेश्वरसंज्ञकानि ।
उद्भूय चोद्भूय लिनन्ति तस्मिन् मितिक्षयात्तत्परमं मनस्तत् ॥४३४॥

६—प्रत्यगात्माभ्युपपत्ति—श्लोकाः ।

*भाग्यर्क्षद्विपदे मृगादिचरणेऽथैतत्त्रिपादे मघा—
द्यङ्घ्रौ वैश्वपदद्वये त्रिपदयोस्त्वाष्ट्रर्क्षवायव्ययोः ॥४३५॥
हस्तर्क्षद्विपदे ग्रहैरविमुखैर्यामे द्वितीये निशि ।
श्रावण्याः परतोऽष्टमीमनु रवौ यस्योदयोऽजोदये ॥४३६॥
वेदार्थानखिलान् विमृश्य निपुणं तेषां प्रचारेच्छया ।
भौमस्वर्गनिवासिनां सुमनसां विज्ञानभेदेषु यः ॥४३७॥
सिद्धान्तोऽतिगभीरभावगहनस्तस्मिन्मनो यो न्यधात् ।
सोऽयं श्रीमधुसूदनोऽभिमनुते प्रागनिर्विशेषस्थितिम् ॥४३८॥
न नव श्लोका एते पुरातनार्थानुवादिनस्तु यतः ।
अविशेषो हि निरुक्तः प्रतनोऽर्थः प्रतननूतनश्लोकैः ॥४३९॥

॥ इति श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते ब्रह्मविज्ञानशास्त्रे शुक्लत्रिसत्याख्ये ब्रह्मसिद्धान्तविज्ञाने निर्विशेषानुवाकः प्रथमः ॥



---

* श्रीमधुसूदनस्य जन्मकालिकग्रहस्थितिः ।

१ सूर्य्यः पू० फाल्गुनी—द्वितीयचरणे
२ चन्द्रः मृगशिरा—प्रथमचरणे
३ भौमः मृगशिरा—तृतीयचरणे
४ बुधः मघा—प्रथमचरणे
५ गुरुः उ० आषाढ़ा—द्वितीयचरणे
६ शुक्रः चित्रा—तृतीय चरणे
७ शनिः स्वाती—तृतीयचरणे
८ राहुः हस्त—द्वितीयचरणे
९ केतुः

विक्रमसंवत्—१९२३ भाद्रपदकृष्णाष्टम्यां रवौ रात्रौ द्वितीय-प्रहरार्द्धे मेषलग्नोदये जन्म ।

द्वितीयः परात्परानुवाकः

१—सृष्टिसामान्यविमर्शः

१—अव्याकृतव्याकरणं जगद्भावः

अव्यक्तमव्याकृतमेव चेदं सर्वं पुरस्तादनिरुक्तमासीत् ।
जज्ञे ततो व्याकृतमर्थजातं तद्व्यक्तमव्यक्तमिति द्विधापि ॥१॥
यद्व्यक्तमेत्तर्हि पुरेदमासीदव्यक्तमव्यक्तमिदं तथान्तरे ।
सर्वस्य यास्तिप्रभृतिः स एवोदक्रोऽर्थमध्ये प्रतिपत्तिरन्या ॥२॥
स्थूलस्य योगस्य मितस्य भावा भावाग्रहाद्व्यक्तिरुदेति मध्ये ।
सूक्ष्मं त्वयोग्यं विभु यद्व्यसीमाव्यक्तस्य व्यावर्त्तिरमुष्य नास्ति ॥३॥
अव्यक्तितद्व्यक्तिपरम्परेयं क्षणावसाना च चिरावसाना ।
क्षणावसाना तु विचारगम्या न दृश्यतेऽद्धाऽथ परा तु दृश्या ॥४॥
अव्यक्तितद्व्यक्तिपरम्परेयं स्वभावतः सिद्ध्यति तस्य तस्य ।
ब्रह्मेति संज्ञा क्रियते द्वयोरप्यवस्थयोस्तद्बृहदस्त्यसीमम् ॥५॥
पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥६॥
अव्यक्तमव्याकृतमुक्तमादौ यद्व्याकृतं व्याक्रियते तदूर्ध्वम् ।
सा व्याकृतिर्य्यद्विविधाकृतित्वाद्विभक्तियोगेन विविच्यतेऽर्थः ॥७॥
एकस्य सामान्यविधस्य यस्यानेके विशेषाः कथिताः स्युरर्थाः ।
एका च संख्या बहवश्च संख्याःस्युर्य्यत्र स व्याकृत उच्यतेऽर्थः ॥८॥

रसाख्ये ब्रह्मणि बलचयनाज्जगत्सृष्टिः

अमृतं मृत्युरिति द्वयमुक्थं विज्ञेयमस्य विश्वस्य ।
अमृतं रस इत्युक्तं मृत्युर्बलमुभयमेव च ब्रह्म ॥९॥
रसं विदुर्ब्रह्म बलं तु तस्मिन्नुत्थाय संस्थाय चमत्करोति ।
बलं हि तत्कर्म्म रसस्ततोऽन्यो ज्ञानं परं ज्योतिरिदं तदाहुः ॥१०॥
अव्याकृतं ब्रह्मरसो विशुद्धः सव्याकृतं ब्रह्म बलैर्विशिष्टः ।
अव्याकृतव्याकृतयोरभेदस्तद्ब्रह्मणः सर्वमिदं समुत्थम् ॥११॥

सहचर-चितिभावाभ्यां बलावस्थाद्वैविध्यम्

तत्र चितिभावे सृष्टिशब्दः

रसे बलं यद्यपि नित्यमास्तृतं नैकं तयोरन्यविनाकृतं क्वचित् ।
बलं तथाप्यत्र रसे द्विधा क्वचित्संवेष्ट्यमानं सहचारि वा क्वचित् ॥१२॥
यदा रसेऽस्मिन् सहचारिता तदा संसर्ग इष्टो न बले बलान्तरैः ।
संसृष्टिरेवेयमपूर्वभावना सृष्टिं ततोऽपूर्वसमुद्भवं विदुः ॥१३॥
बलं बलं वेष्टयते ततस्तयोर्धृत्या मिथोबन्धनमस्ति सा चितिः ।
तां सृष्टिमाहुर्बलसंचितिं रसे सर्वोऽपि भावो बलसंचयोऽस्त्ययम् ॥१४॥
संवेष्टनाद् ग्रन्थिभवद्बलं बलैरुद्ग्रन्थनैः स्याद्यदि मुक्तबन्धनम् ।
मुक्तिं तदाहुः सहचारि तत्र तद्बलं रसे तिष्ठति तन्न सृष्टिमत् ॥१५॥

जगतःसत्यमिथ्यात्वम्

मृत्स्नां करेण प्रतिहत्य कारुको नानाकृतीः कल्पयतेऽपहन्ति च ।
शिलापटे प्रस्तरलेखनीबलान्नानाकृतिः कल्पयते विहन्ति च ॥१६॥
सरो रसे वायुबलात्पुनःपुनर्भवन्ति नानाकृतयोऽपयान्ति च ।
तथा बलाद्ब्रह्मरसे स्वयंभवादिमानि रूपाणि भवन्ति यान्ति च ॥१७॥
रसे त्वनात्मन्वि बलं पृथक्तया मिथोच्यते नास्ति हि तद्रसं जहत् ।
रसान्विते तेन रसेन सात्मकं सत्यस्ति तत्सत्यमिदं जगद्विधम् ॥१८॥
इहामृतं ब्रह्मसमन्वितं ततः सत्यं जगन्नेदमलं विनश्यति ।
प्रतिक्षणक्षैण्यविलक्षणाद् बलाद्विलक्षणं सर्वमिहास्त्यनुक्षणम् ॥१९॥

स्वयंसृष्टिः-मानसीसृष्टिः-मैथुनीसृष्टिरिति भेदात्सृष्टित्रैविध्यम्

सृष्टीः स्वयंमानसमैथुनेभ्यस्त्रेधा विवर्त्य स्वयमन्यरूपः ।
संसृज्यते दुग्धदधीव फेनश्लेष्मेव सर्गः स्वयमुद्भवः सः ॥२०॥
दिवाविकाशोऽस्ति हि मानसो वा सांयौगिको वा रविसन्नियोगात् ।
सूर्यस्य चास्तंगमने निशाया यश्चान्धकारः स्वयमेष सर्गः ॥२१॥
सूर्यो यदि द्यौः पृथिवी तदा भूः सूर्य्यस्तु पृथ्वी वरुणो यदि द्यौः ।
योगीच्छयार्थं तनुतेऽन्यपुत्रं स्वं मन्यते, मानससृष्टिरेषा ॥२२॥

अज्ञानविज्ञानवशाच्च चिन्तया या श्रद्धया विश्वसितेश्च विक्रिया ।
मनोवशात्प्राणगतिस्ततः क्रिया वाचीति सृष्टिर्भवतीह मानसी ॥२३॥
चितेरथान्नाहुतितोऽथ रेतः सेकान्नियुद्धादपि वा परस्मिन् ।
परस्य योगो यदि चेदपूर्वप्रसूस्तदा मैथुनसर्ग एषः ॥२४॥

स्वयंसर्ग-मानससर्गयोः क्वचित्साङ्कर्यम्

यः कालिकः स्यात्परिणाम आत्मनो बलस्य सर्गः स्वयमेष मानसः ।
सांयौगिको यः परिणाम आत्मनो बलस्य सा सृष्टिरुदेति मैथुनी ॥२५॥
किट्टं यथास्त्यौदयिकं च लोहे स्वतस्तथा मानससृष्टिरस्ति ।
अपां च वायोश्च मिथःप्रयोगात् फेनोदयो मैथुनसृष्टिरूपम् ॥२६॥

रसे बलोदयःस्वयंसृष्टिः

बलं रसे सुप्तमुदेति तद्ध्रुवं स्वतो निरात्मैव नु किन्तु तत्क्षणात् ।
पीत्वा रसं तत्र रसे स्वयं चितं चात्मन्वितामेति तदेकतां गतम् ॥२७॥
सृष्ट्यादिकालेन परप्रसङ्गः स्वयंरसः किन्तु बलप्रयोगात् ।
रूपान्तरं क्षीरशराभमित्वा युङ्क्ते मनस्तत् प्रथमो विकासः ॥२८॥

स्वयंसृष्टिप्रतिषेधो मतभेदात् ।

सृष्टिर्द्विधैवास्ति न सा स्वयं स्यादित्थं मते त्वत्र रसे बलस्य ।
या प्राणनापाननवृत्तिरेषा बलस्य कुर्य्यादुदयं लयं च ॥२९॥
नैषा स्वयं सृष्टिरपि त्वमुष्मिन् रसे बलं योगवशादुदेति ।
रसो न चेत्स्यादुदयः कुतः स्याल्लयः कुह स्यादपि वृत्तियोगात् ॥३०॥

सत्कार्यासत्कार्यवादविमर्शः

अवरे परधर्म्मानुवृत्तिः

परस्य धर्म्मोऽवरतोऽनुवर्तते विरुद्धधर्म्मो यदि नोपजायते ।
चिच्चेतनाद्या मनसीव विग्रहेऽणुत्वादिकं किन्तु न पीवरेऽवरे ॥३१॥

सूक्ष्मात् स्थूलोदयः

रसान्मनोऽथ क्रमतोऽव्ययोऽक्षरः क्षरश्च सर्वे ययुरुत्तरोत्तरम् ।
स्थौल्यं बलेऽन्यान्यबलोच्चयादथा परे विदुः स्थौल्यगुणं मनस्यपि ॥३२॥

कारणगुणानां कार्य्यगुणारम्भकत्वम् ॥

न स्थूलता चेदभविष्यदग्ये स्वकारणे तर्हि कदापि कार्य्ये ।
नो देष्यदेषा न कदाप्यकस्मात्किंचित्क्वचित् संभवतीह रूपम् ॥३३॥
अव्यक्तरूपा य इमे रसा अपो व्यक्तिं त्वकस्मादिव यान्ति योगतः ।
नैवं भ्रमो ध्येय इहापि तद्रसे प्रव्यक्तियोगत्वमवश्यमिष्यते ॥३४॥
तथा च धर्म्मा अखिला अपीदृशा निर्भान्ति कार्य्येष्विह यत्र तत्र ।
ते बीजरूपे मनसि स्थिता ध्रुवं व्यक्तीभवन्त्युत्तरतश्चितिक्रमात् ॥३५॥

ब्रह्मणि रसे वैचित्र्योदयस्य महिमोपपन्नत्वं बलनिबन्धनत्वं वा ।

स ब्रह्मणो वा महिमाऽस्त्यकारणं यत्प्रागसद्वस्तु विजायते चितेः ।
बलप्रभावाद्रस एव सोऽन्यथान्यथा विभात्यप्यविशेषनिर्गुणः ॥३६॥
इत्थं रसे तत्र मतद्वयं स्थितं यथा तथा वास्तु मनस्तु पूर्वतः ।
उद्भूय बीजं प्रचितैर्बलैः क्रमात् त्रीन् पूरुषांस्त्रीनसृजच्च विग्रहान् ॥३७॥

परात्परविमर्शः

रसे मायाशनायोर्मिरिति मूलत्रिबलोदयान्मनसः स्वरूपसिद्धिः॥

रसोऽमृतं यौति बलेन मृत्युना मायाशनायोर्मिभिदा त्रिभक्तिना ।
चिच्चेतनाधर्म्मि मनस्ततोऽभवद् विश्वस्य तद्बीजमविच्युतं स्थितम् ।३८।
मायाऽशनायोर्मिरिति प्रशान्ते रसे बलानि त्रिविधानि नित्यम् ।
प्रवर्त्तमानान्यनुवर्तमानान्येवं निवृत्तानि भवन्ति शश्वत् ॥३९॥
रसेऽमिते येन मितिर्बलं तन्मायाऽथ पूर्णत्वकृते बुभुक्षा ।
या साऽशनायाऽस्त्यशितेर्मितेर्वाऽन्यान्यप्रवृत्या परिवृत्तिरूर्मिः ॥४०॥
इत्थं स मायावशतो रसो यद्रूपं दधे तत्र त एव धर्म्माः ।
मायाऽशनायोर्मिरिति त्रयः स्युस्तद्वै मनो नाम रसाद्यरूपम् ॥४१॥

क्षराक्षराव्ययपुरुषत्रयापेक्षया मनसस्तुरीयत्वम्

सर्वत्र तत्तत्र हि सर्वमेतत् सर्वं च तत्सर्वविलक्षणं च तत् ।
ततं ततः सर्वमिति प्रवक्ष्यन् मनस्तदत्राकलयामि किञ्चित् ॥४२॥

क्षुद्रं महद्वेह यदस्ति किञ्चित् तत्तच्चतुष्पादिदमस्ति सर्वम् ।
चतुः स्तरे तत्र यदस्ति सर्वान्तरं तदेवानुसरन्ति सर्वे ॥४३॥
यद् दृश्यते तत्क्षरमेव सर्वं तत्राक्षरोऽन्तः पुनरव्ययोऽन्तः ।
यदव्ययस्यान्तरतो मनस्तत्परात्परं नाम तुरीयमस्ति ॥४४॥

मनसः सर्वालम्बनत्वम् ।

तुरीयमेवाखिलपूरुषाणामालम्बनं सा प्रणवेऽर्द्धमात्रा ।
यावत्तुरीयं विभवत्यमुष्मिन् वर्णास्त्रयस्ते विभवन्ति तावत् ॥४५॥
तुरीयसंस्थास्ति यथा तथैवाव्ययं तथैव क्षरमास्तृणीते ।
क्षरं च तद्वत्प्रतिभाति तस्मात्तुरीयमालम्बनमेव मुख्यम् ॥४६॥
क्षरं विनाप्यक्षरमस्त्यथाक्षरातिरेकतोऽप्यस्ति परं तदव्ययम् ।
मनस्तु सर्वानुगतं परावरव्याप्तं विना तेन न कोऽपि पूरुषः ॥४७॥

६—मायाविमर्शः

अमिते मितिकरणबलस्य मायात्वम्

उद्बुद्धमादौ स्वयमेव यद्बलं रसे तदात्मन्वि रसेन जायते ।
स्वतोऽसदेतेन रसेन सत्तया बलं सदस्मिन् मितिमादधे रसे ॥४८॥
रसोऽमृतं मृत्युरिहाहितं बलं तत् खण्डखण्डं पृथगुत्थितिक्षितिः ।
रसोऽमृतं विभ्वपि मृत्युसंवृतं धत्तेऽणिमानं प्रमितं भवेत्ततः ॥४९॥
स्वतस्त्वसीमोऽस्ति रसोऽत्र मृत्युः क्षुद्रोऽप्यकस्माद् बहु विस्तृतोऽपि ।
यथाऽयमुद्यन् वृणुतेऽमृतं तत्तथा परिच्छिद्य दधाति रूपम् ॥५०॥
बलेन येनाप्रमिते रसे मितिर्निष्पद्यते तच्च बलं मितिं च ताम् ।
मायां विदुर्मायिरसेऽखिलं जगत्तन्माययैव क्रियते विपद्यते ॥५१॥
इत्थं बलेनास्य रसस्य योगो न संभवत्येवमिदं न शङ्क्यम् ।
घटं पटं वेद्मि तयोश्च योगाज्ज्ञानस्य सीमावदुदेति रूपम् ॥५२॥

मायोन्मेष—निमेषाभ्यां शान्तसमृद्धभावौ,

परात्परं नाम मनो द्विधेष्यते यत्सर्वमायोपहिताभयाद्वयम् ।
तन्निर्विशेषं परिशान्तमक्रियं मायाविकारानिह नाभिपश्यति ॥५३॥

मायाविशिष्टं तु समृद्धमस्ति तन्मनः परिक्षुब्धविशेषरूपवत् ।
अनन्तमायाकृतविग्रहा महामाया मनस्तत् तनुते जगद्विधम् ॥५४॥
बलाश्रयोऽप्येष रसः स्वयं बलं न स्यान्न वा विक्रियते न विद्यते ।
बलं तु तत्र स्वयमेव यद्यथा क्षुभ्णाति तद्वत् स रसोऽपि लक्ष्यते ॥५५॥

कर्म्म, रूपं, नामेति मायाबलत्रैविध्यम् ।

मायाबलस्य त्रिविधा प्रवृत्तिः कर्म्माणि रूपाणि च नामभेदाः ।
मानं रसे तत्त्रयमानदृष्टिः सर्वत्र सोऽयं मनसोऽस्ति भोगः ॥५६॥
मनो हि तद्ब्रह्मपरार्धभागाद्रूपेण नाम्ना यदिमांस्तु लोकान् ।
विवेश तद्वाजसनेय आह प्रजापतिं, तित्तिरिराह विष्टम् ।५७। (श०११।१।११

नाम–रूप–कर्म्मणां मनस्युपपत्तिः ॥

वाङ्मानसे च प्राणाश्चेति त्रयमव्ययस्य रूपं तु ।
वाचैव नाम रूपं मनसा प्राणेन कर्म्म संभक्तम् ॥५८॥
मनसि तु परात्परेऽस्मिन् संभाव्यन्ते न यद्यपीमानि ।
एवमपि प्रतिपद्य तेषामुदयं तु माययैव समम् ॥५९॥

मायावशेन मित्यां सत्यां तस्यां बलं विधृतम् ।
कर्म्मास्ति, तेन रूपं पृथगिव क्लृप्तं पृथङ् नाम ॥६०॥
उदकपरस्परघर्षे श्वैत्यमपूर्वं प्रपात उद्भवति ।
नैल्यं गन्धकधूमे संयोगे नीलपीतयोर्हरितः ॥६१॥

तदिदं पूर्वं क्वासीत् कुत इह संपद्यतेऽकस्मात् ।
मनसि त्वव्ययमेतद् व्यक्तं स्यादन्यबलयोगे ॥६२॥
एवं त्रयमव्यक्तं परबलतस्तूपपद्यते मनसि ।
पश्चादक्षरयोगाद्व्यक्तिस्तेषां तथा भवति ॥६३॥

तत्र मनोगतबलतः स्थानं त्रेधोपपद्यते तावत् ।
तेष्वेष त्रिरूपाण्याधीयन्ते पृथग् ग्राहात् ॥६४॥
बाह्यक्षरं तु वस्तुस्पृशन्मनस्तस्य रूपेण ।
परिणमते बलमेतत्तृतीयमत्रोपपद्यते पश्चात् ॥६५॥

इत्थं बले पुराणे बलमपरं तत्र बलमपरम् ।
प्रचितं व्यनक्ति रूपं कर्म्म च नामेति सा माया ॥६६॥

कर्म्म त्रेधा –रूपं चतुर्धा –नामैकधा च ?

माया मितिकरणीयं कर्म्म तया नामरूपे च ।
अवरुद्धान्यथ कर्म्मत्रेधा बलं प्राणो क्रिया चेति ॥६७॥
सुप्तं बलमथ कुर्वद्रूपं यत् स्याद्विकाररूपेण ।
परिणतमेष प्राणो यर्हि व्युच्छिद्यते क्रिया सास्ति ॥६८॥
तत्र बलस्य विशेषा भवन्त्यनन्ता न ते शक्याः ।
गणयितुमव्ययपूर्वाः पुरुषास्तस्माद्विजृम्भन्ते ॥६९॥
कर्म्म च नाम च रूपं रूपं वर्णाः सितासिता रक्ताः ।
आकृतिसंस्थारूपं रूपं तस्माच्चतुर्विधं भवति ॥७०॥
अमृता वाचो देवा, मर्त्या वाचस्तु सन्ति भूतानि ।
वागेव नाम तस्मान्नामैवैतच्छ्रुतं सर्वम् ॥७१॥
सम्पृक्ता वागर्थे तदभेदाद् व्यक्तिरुच्यते नाम्ना ।
उक्ता वागुपनमति प्रत्यर्थे ज्ञातसंबन्धे ॥७२॥
नाम्नाहूतः सुप्तः प्रतिबुध्यति तेन नाम्नोऽस्य ।
दृढसंबन्धविशेषं मन्ये न तु बुद्धिकल्पनामात्रम् ॥७३॥

मायोद्ग्राभ–निग्राभयोरविद्या–विद्या–शब्दौ

माया कर्म्म च नाम रूपं चैषां प्रवर्तते भूयः ।
स्वयमिव निवर्तते च द्वे अन्ये ते बले तत्र ॥७४॥
मायाप्रवृत्तिलक्षणबलं त्वविद्योच्यते विद्या ।
माया निवृत्तिलक्षणबलं तयोरेव संहिता माया ॥७५॥
मायोद्ग्राभमविद्यां विद्यानिग्राभमाहुरेतस्याः ।
किञ्चिद्बलं बलानां विद्यां वर्त्तयति किञ्चनाविद्याम् ॥७६॥
विद्याविद्ये मायावस्थे भवतो बलं निखिलम् ।
नूनमविद्यायां,स्याद्विद्यायां सर्वबलविलयः ॥७७॥

बलमासञ्जनमाहाविद्यां तस्यां बलानि सज्जन्ते ।
आसक्तिस्तु बलानामन्योन्यं बन्धनं स्थेमे ॥७८॥

उद्बन्धनबलमेषामन्योन्यं येन नश्यति ग्रन्थिः ।
रसतो मुक्तान्येतान्युच्छिद्यन्ते हि सा विद्या ॥७९॥

विद्याऽनासक्तिबलं सत्यामस्यां रसे बलप्रचयः ।
भूयानपि न परस्परमासक्तः स्याद्रसं न गृह्णाति ॥८०॥

आसत्त्याऽखिलसृष्टिः प्रतिसृष्टिः स्यादनासत्या ।
विद्या मुक्ते रूपं सृष्टे रूपं त्वविद्यास्ति ॥८१॥

बलबन्धनाय यावत्प्रमितमविद्या बलं सक्तम् ।
तावत्प्रमितं वस्तूपपद्यते वस्तु भाति बलसंघः ॥८२॥

विद्याबलमिह वस्तूनि यदि चेदुद्भवति बन्धनादधिकम् ।
सद्यः स्वयमुद्बन्धनभावात्तद्वस्तु मुच्यते भावात् ॥८३॥

बन्धनबलमुद्बन्धनतुलितं चेत्तर्हि जायते ज्ञानम् ।
स्थिरतापि प्रज्ञायां भवति बलद्वितयतारतम्येन ॥८४॥

बालेति गृध्नुपुरुषे गर्द्धो बुद्धावुदेत्य विद्यायाम् ।
आसक्तिश्चाप्यधिका विद्यातो हीयते गर्द्धः ॥८५॥

यावदविद्या तावत्प्रमिते वस्तुन्युदेति चासक्तिः ।
आसक्त्यैव तु गर्द्धो भवति तमेवाहुरशनायाम् ॥८६॥

७. अशनाया विमर्शः

अशनायास्स्वरूपम्

पूर्णेति भाषाबलतोऽस्त्यपूर्णता ततोऽशनायोदयते प्रपूर्तये ।
पाप्माऽशनायाऽति रसे मनस्त्वक्तस समृत्युरेतेन पुरेदमावृतम् ॥८७॥

अशनाया द्वैविध्ये नित्याशनायाः

नित्याऽशनायापि च वासनापि द्वेधाऽशनायास्ति हि नित्ययानया ।
न हीयते क्वापि मनोऽथ वासना तूदेति संस्कारविबोधनात्क्वचित् ॥८८॥

भूम्नेऽणिमाऽयं स्वयमेव नित्यं व्युच्छिद्यते किन्तु चिराय सार्द्धम् ।
मायोदयो योऽस्त्यणिमा स तस्मिन् नित्याशनायाऽऽत्मनि भाति भूम्ने ।८९।
नित्याशनाया प्रतिवस्तु दृश्यते जडं तथा चेतनमप्यशेषतः ।
प्रत्यर्थमाकर्षति भोक्तुमिच्छति स्ववेदतो *नामतिरस्य सा बहिः ॥९०॥
अन्यात्मनोऽङ्गान्यविशेषतः सदैवाकृष्य चाकृष्य च कर्तुमात्मनि ।
इच्छन्ति भावा अखिला हि सिद्ध्यति त्वाकृष्टिरत्रार्कबलानुसारतः ॥९१॥
सर्वोऽयमात्मेच्छति सर्वदा निजामभ्युन्नतिं नास्ति कदाप्यनिच्छता ।
न निर्विशेषत्वमुपैति यावता न तावदात्मन्यपहीयते स्पृहा ॥९२॥

वासनाशनायाश्चतुर्विधा

यतस्तु कान्तातनयान्नसंपदादीनामिहेच्छाऽऽत्मनि सा हि वासना ।
उद्बुद्धसंस्कारवशादुदेत्य सा तदर्थसिद्धा विनिवर्तते पुनः ॥९३॥
सुप्ता[1] प्रबु[2]द्धाप[3]हता निर्वृत्ता चेत्थं चतुर्धास्ति हि वासनाख्या ।
सुप्ता चिराया क्वचिदस्ति बुद्धा स्पृहा च कामश्च तदुत्थितोऽर्थः ॥९४॥
सा लक्षणा सा पातितरां प्रबुद्धा दृढं प्रवृत्तापि यदाऽशनायाः ।
नैवाशितिं स्वां लभते विरुद्धस्वसाधना साऽपहता विकुण्ठा ॥९५॥
उक्थस्य यावद्बलमिन्द्रनाम्नस्तत् साम यूनर्वपदाख्यसिद्धम् ।
†यूनर्वणाश्चेदधिकाऽशनाया स्यात् कुण्ठिता साऽपहतार्तिरूपा ॥९६॥

८—ऊर्मिनिरुक्तिः

मनसि भूमाऽणिम्नोर्योगान्नानावैचित्र्याणि

मायावशादस्य रसस्य रूपं मितं पुरस्तादुदभून्मनस्तत् ।
तत्रोर्म्मितः सा मितिरस्ति लघ्वी दीर्घाऽतिदीर्घा क्वचिदस्ति नास्ति ॥९७॥
माया विचित्रेति मनोऽस्त्यणीयो महन्महीयः किमपि त्वसीमम् ।
भूमाऽणिमा स्यादणिमा च भूमा भूम्नेऽणिमाऽणिम्नि निचीयते च ॥९८॥

---

*अमतिरशनायाः ।

†साम वै यूनर्वा । मा मा यूनर्वाऽहासीदित्याह (ताण्ड्य ६।४।१।११ ।)

[जुर्तकाबू]

चिदात्माधिकरणम्

६—मनसश्चिदात्मताविचारः

'मूलबलत्रयस्वाभाव्यान्मनसश्चिद्रूपत्वम्'

मायाशनायोर्म्मिमयस्य ताभ्यश्चितिःस्वभावोऽस्ति हि चेतना च ।
चिद्वा स तेनास्ति स चेतनो वा चितौ रसस्थं बलमेव हेतुः ॥९९॥
रसे क्रिया नास्ति बलं निरात्मकं तयोर्न तत्संभवति स्वतश्चितिः ।
रसात्मनस्तस्य बलस्य संचये चितिर्बलस्थस्य रसस्य लक्ष्यते ॥१००॥
यस्मिंश्चितिर्येन चितिश्चितिं वा पृथक् स्थितश्चेतयते य इच्छन् ।
या वा चितिः सर्वविधाभिरेको निश्चीयते तं चितिमाहुरार्य्याः ॥१०१॥
यः शान्त आनन्द इहातिशेते स चिन्मनः स्याश्चयनाद्बलानाम् ।
अव्यक्तमव्याकृतमस्ति यत्तद्व्यक्तं भवत् पूर्वमभून्मनस्तत् ॥१०२॥

चितश्चितिचेतनोभयवृत्तित्वस्वाभाव्यम्

चितिं चिनोत्येष तु चेतना वा चिच्चेतयत्येवमयं द्विवृत्तिः ।
चित्यैकताऽनेकसमुच्चयात्स्यादनेकतां चेतनयैक एति ॥१०३॥
चितीच्छया वै भवति प्रवृत्तिः सा चेतना चेतयमान आत्मा ।
यदात्मना चेतयते बहुः सन् स्वस्मिंश्चितीरिच्छति भूयसीस्तत् ॥१०४॥
अन्यत्रान्याधानं चयनं चितिरेतद्विच्छायाम् ।
चेतयतिः खलु धातुर्वाजसनेयश्रुतौ सिद्धः ॥१०५॥ [६कां २प्र-२ब्रा]
यश्चेतनामात्रचिदस्ति यत्र वा चितिर्नचान्यास्ति स वै परात्परः ।
अथैकधा वा बहुधा चित्तिं गतः स चेतनश्चित्पुरुषो निरुच्यते ॥१०६॥
परात्परं तद्धि मनाश्चिदस्तीत्यतश्चितीनामथ चेतनानाम् ।
वैचित्र्यतोऽस्मान्मनसो विचित्राः स्युः सृष्टयोऽग्र्याः पुरुषाभिधानाः ॥१०७॥
मायावशात्खण्डमयान्यनन्तान्याविर्भव*न्तीह मनांसि यानि ।
तत्राशनायोर्म्मिवशान्मिथो यो योगो बहुत्वाय चितिं विदुस्ताम् ॥१०८॥

---

*विकारसृष्टया नवनवार्थोद्भावना बहुत्वम् ।

चितिप्रक्लृप्तिः पुरुषस्य लक्षणं तदुत्तरत्र प्रतिपादयिष्यते ।
चिच्चेतना क्लृप्तशरीर इष्यते परात्परात्मा स इह प्रदर्श्यते ॥१०९॥

चेतनाचातुर्विध्यम्

चिच्चेतना चेति सदा द्विरूपभृन्मनस्तदेतत् तनुतेऽखिलं जगत् ।
सा चेतना व्यक्तिकरी त्रिविक्रमा[2] वितानना[3] सर्गविधा[4]श्च विग्रहाः ॥११०॥

[1]व्यक्तिर्विभक्तिः पृथगात्मता हि सा, हार्द्दो निकायो विभवश्च विक्रमाः ।
वेदैस्त्रिभिर्यज्ञविधिर्विताननाः[3], सर्गास्त्वथः स्युः पुरुषा इति स्थितिः ॥१११॥

नानाविधत्वं खलु चेतनाया रूपं यदेकं तदनेकरूपैः ।
संपद्यते, तेपु समानभावात्प्रवर्तते तं चितमाहुरार्य्याः ॥११२॥

सुप्तस्य चितो बोधश्चैतन्यं श्रमतपःकामाः ।
मुकुलितभावश्चिदयं विकसितभावस्तु चेतना तस्य ॥११३॥

व्यक्तिचेतनाधिकरणम्

१०–चेतनाचातुर्विध्ये व्यक्तिचेतनाविचारः

मृत्युस्वरूपत्रयम्

भवत्यकस्मादुदयः प्रशान्तेऽमृते रसेऽनन्तविधस्य मृत्योः ।
त्रिधा गतिः स्यादुदितस्य तस्य स्याद्वा बलं प्राण इति क्रिया वा ॥११४॥

मृत्युः स्वयम्भूरमृतं रसं तं संवेष्ट्य यत्र स्थिरतामुपैति ।
ब्रूमो बलं तर्ह्यथ चेद् रसं तं त्यक्त्वाऽयमुत्सीदति सा क्रियोक्ता ॥११५॥

बलं बलं वेष्टयते रसस्त्वयं न वेष्टते नापि च वेष्ट्यते स्वयम् ।
संवेष्ट्यमानेऽपि रसो न रिच्यते तस्माद्रसे तत्प्रमिते तथा मतिः ॥११६॥

उद्भूय मृत्युस्तु यदा रसेऽस्मिन्नुद्धिद्यमानोऽपि च वेष्ट्यमानः ।
रसप्रभेदेन भवेत् तदाऽसौ प्राणो विकारं जनयन् प्रसिद्धः ॥११७॥

त्रिधा ह्यवस्थाऽस्ति ततोऽस्य मृत्योरुच्छिद्यमाना परिवेष्ट्यमाना ।
मध्ये विकुर्वाणपदा यतोऽस्मात्प्राणात् क्रियन्ते विविधा विकाराः ॥११८॥

अमृते मृत्युचितित्रैविध्यान्मृत्युस्वरूपत्रयसिद्धिः

रसं समावेष्ट्य यदा बलं स्यात्तदाद्या चितिः स्यादमृतेऽस्य मृत्योः ।
बलं समुद्धृय रसेऽमिते यां मितिं सृजेत्साऽत्र चितिर्द्वितीया ॥११९॥
वयः सृजत्यादिचितिर्हि तस्मिन् धत्ते वयोनाधबले द्वितीया ।
क्रियावशात्प्राणबलप्रणाशोऽप्यर्थस्य रूपं परिवृत्तिमेति ॥१२०॥
इयं वयोनाधमितिर्हि माया तत्राशनायां जनयत्यपूर्णे ।
तयोदिता या वयसीह शक्तिः साऽन्या चितिः स्याद्वयुनं तदाहुः ॥१२१॥

व्यक्तिबलत्रयाख्यानम् ॥

नाधोवयस्तद्वयुनं त्रिधेत्थं व्यक्तित्वयं व्यक्तिबलं विधत्ते ।
महानणुर्वा त्रिभिरेभिरर्थैः पृथक्कृतया व्यज्यत एक एकः ॥१२२॥
या वस्तुसीमा स हि नाध उक्तो दिक्कालदेशाद्द्विविधा विभक्तम् ।
यद्भौतिकं मर्त्यमिदं वयः स्यात् तत्रामृतं यद्वयुनं तदाहुः ॥१२३॥
नाधोऽयमावाप इदं वयोऽन्नं तत्रान्नभुक् तद्वयुनं यदस्ति ।
अन्नादमन्नं च तयोः प्रतिष्ठा नैभिस्त्रिभिः शून्यमिहास्ति किञ्चित् ॥१२४॥
असत्तु सर्वं वयुनं न दृश्यते यद् दृश्यते वस्तुनि तद्वयो हि सत् ।
वस्त्वाकृतिर्भाति न भाति चक्षुषा तयोर्वयोनाधमिदं सदप्यसत् ॥१२५॥
दृष्टं वयोनाधसमर्पितं वयो वयो निधानं वयुनं प्रवर्तते ।
बलत्रिचित्या मनसोऽस्ति भावना मनोऽर्पितत्वात्पुरुषास्तथा बलाः ॥१२६॥
पुंसां वयोनाधमिदं मनोमयं तं वस्तुविष्कम्भमवैमि तद्वियत् ।
वयस्तु तद्वाङ्मयमन्नमुच्यते प्राणस्तु सोऽन्नाद्वयुनं यदत्र तत ॥१२७॥
आद्ये मनस्यस्ति न वाङ् न वा मनो न प्राण एते पुरुषोत्तमे स्थिताः ।
यदत्र कीदृक् त्रितयं परात्परं मनस्यमुष्मिन्निति नावगम्यते ॥१२८॥
नाधोऽथवा प्राणविधोऽस्ति वीर्य्यत्रयं वयस्तत्परतः प्रवक्ष्ये ।
वीर्य्यत्रयाध्यक्षमिहास्ति सत्यं यदेकमेतद्वयुनं प्रतीयात् ॥१२९॥

त्रिविधं वयो नाधबलम् ।।

तिलस्य शाल्याश्च यवस्य याऽकृतिस्तद्वै वयोनाधबलं तदुच्यते ।
अपेक्ष्यते भूतरसो वयो हि तद्वस्तुप्रभावो वयुनं स मुख्यवत् ॥१३०॥
उद्दिश्य तत्तद्वयुनं वयोऽद्यते विषं भयात्तद्वयुनान्निरस्यते ।
नार्थो वयो नाधबलेन वस्तुनः स्वरूपविज्ञानकृते त्वपेक्ष्यते ॥१३१॥
असीमनित्यो लभते स सीमतां क्षुद्रा विशालाऽऽवृतिरस्त्यनेकधा ।
एतद्वयोनाधबलं रसे स्वतः प्रवर्तते छन्दनमस्ति तद्रसे ॥१३२॥
प्राणो वयोनाध इति स्म तद्वच्छन्दो वयोनाध इति स्म पूर्वैः ।
प्राग् वैश्वदेवीं चितिमन्वनूक्तं काण्डेऽष्टमे शातपथश्रुतौ वा ॥१३३॥
छन्दस्त्रिधाऽस्त्यव्ययतस्तु मात्राकृतं क्वचिद्वाऽक्षरैः संप्रक्लृप्तम् ।
द्वाभ्यां च ताभ्यां परिक्लृप्तमन्यत् तद्वैगणैश्छन्द इति प्रसिद्धम् ॥१३४॥
यथाऽव्ययच्छन्दसि वस्तुजातेर्यथाक्षरच्छन्दसि वास्ति साम्यम् ।
तदुत्तरस्मिन्पुरुषाधिकारे प्रवक्ष्यते भिन्ननिदर्शनाभिः ॥१३५॥
मा च प्रमा च प्रतिमा च तिस्रोऽथास्त्रीवयश्चेति चतुर्विधं तत् ।
छन्दो मितिर्माऽणुमहत्त्वदैर्घ्यक्षौद्र्यादिभिर्देशपरिस्तृतेर्या ॥१३६॥
प्रमीयते गोत्वपशुत्वपुंस्त्वस्त्रीत्वादिभिर्व्यक्तिकुलप्रभेदात् ।
सा च प्रमा नाकृतितुल्यता सा शुकेन्दुरादेर्विविधाकृतित्वात् ॥१३७॥
यत्प्रातिरूप्यं च यदानुरूप्यं यच्चाभिरूप्यं प्रतिमा मता सा ।
संवत्सरस्य प्रतिमा हि रात्र्यः स्युर्द्वादशेत्येवमपि प्रविद्यात् ॥१३८॥
इतोऽतिरिक्तानि तु सर्वरूपाण्याच्छन्दनानि क च सन्ति यानि ।
आस्त्रीवयस्तानि यथा त्रिलोक्या अभ्यन्तरे सन्ति दिशो बहिश्च ॥१३९॥
छन्दोविधा आवरणं प्रवादे निरूपिता सन्ति निदेशरूपैः ।
तानापलभ्या अखिला अपीमा भवन्ति युक्ता वयसां ग्रहीत्यै ॥१४०॥

त्रिविधं वयोबलम्

परात्परेऽस्मिन्मनसि स्थितं यद्वयोबलं तस्य भवेद्विपाकात् ।
प्राणो मनो वागिति हि त्रिरूपं तल्लक्षितोऽत्राव्ययपूरुषः स्यात् ॥१४१॥

प्रच्छन्दिते तत्र रसे प्रविश्य तं रसं विचित्रं विदधाति तद्बलम् ।
उपोम्भनं हूर्छनमस्ति कश्मलीकृदेतदित्थं त्रिविधं वयोबलम् ॥१४२॥
उपोम्भनं तद्यदि भुज्यते बलं रसेन सज्ञानमयो बली रसः ।
हूर्छाबलेन त्वपमृद्यते रसः प्राणः स एतद्धि बलं रसोदरम् ॥१४३॥
यत्कश्मलीकृद्बलमत्र मिश्रितं रसो बलं तेन परस्परान्वयात् ।
एकीभवद्वागिति नाम जायते पुनस्त्रयं भिन्नविधं सहस्रधा ॥१४४॥

त्रिविधं वयुनबलम्

यदस्य कर्म्मास्त्यथ येन कर्म्मणा विज्ञायते लक्षितमन्यतः पृथक् ।
वस्तुन्यसाधारणधर्म्म एष यो नाम्ना तदाहुर्वयुनं तदस्ति तत् ॥१४५॥
प्रत्येकभावे वयुनं हि सारस्तदर्थमस्ति प्रतिवस्त्वपेक्षा ।
वयोऽभिरक्षेद्वयुनं तथा तद्वयो वयोनाध इहाभिरक्षेत् ॥१४६॥
यद् वस्तुनित्यं यदभावतः सा व्यक्तिर्विपद्येत हि तत्तदात्मा ।
दिक्कालसंख्यादिगुणास्तु तस्मिन्नित्योपसन्ना उपसर्गरूपाः ॥१४७॥
आगन्तुकं यद्वयुनं तदस्मिन्ननात्मिकं किंचन संनिधत्ते ।
आगन्तुके सत्यसतीह वस्तुस्थितिः समानी न तु वस्तुभेदः ॥१४८॥
उत्क्षिप्तलोष्टे तु यदस्ति नोदना बलं तदागन्तुकमत्र सज्जते ।
यदीष्टका सूदकमादितो धृतं तप्तासु चाग्निर्द्वयमप्यनात्मिकम् ॥१४९॥
आगन्तुकं पञ्च यदौपसर्गिकं तन्नास्त्यसाधारणधर्म्ममात्मवत् ।
तथापि नाधाद्वयसश्च तत्पृथक् सिद्ध्यतस्तद्वयुनं प्रकल्पते ॥१५०॥

व्यक्तिबलत्रयेऽशनायोपचारः

उच्छित्तिधर्म्मा खलु मृत्युरस्तीत्युच्छिद्यतेऽदः स्वरसाद्बलं यत् ।
मायामिते तेन रसे वयोभिःशून्यं वयोनाधमिदं ध्रुवं स्यात् ॥१५१॥
ततो बलं यद्वयुनाभिधानं तत्स्वप्रतिष्ठा वयसोऽतिरेकात् ।
विहूर्छति ब्रह्मणि ततो मनस्तद् यद्रूपमागच्छति साऽशनाया ॥१५२॥
वयश्च नाधो वयुनं च यद्यप्युच्छित्तिधर्म्मैव बलं तथापि ।
बलानि तानीह भवन्त्यकस्मादनेकवैशेष्यविकारभाञ्जि ॥१५३॥

उत्सीदतस्तद्वयसः पदेऽस्मिन् वयोबलं नोदयते निसर्गात् ।
स्थानान्तरोत्पन्नवयस्तु तत्राकृष्टं वयोधाम करोति पूर्णम् ॥१५४॥

उच्छिद्यमानं वयुनं वयोभ्यस्तूत्पद्यतेऽनुक्षणमत्र सर्गात् ।
वयोवियोगे त्विह योन्यभावान्नोत्पद्यते ह्रूर्छति हीयते च ॥१५५॥

इदं वयोनाथबलं तु शश्वद् व्युच्छिद्यमानं सह चाविरस्ति ।
प्रत्यर्थनाथोनियतस्वरूपस्तद्भाति यावन्न बलं विधाति ॥१५६॥

पश्यामि तस्मादशनेन भूयस्तृप्तोऽपि काले क्षुधयाऽस्ति दीनः ।
स चान्यतोऽन्नान्युपभुज्य नाथं प्रागवद् दधानो वयुनं च धत्ते ॥१५७॥

इत्थं च मायावशतोऽत्र मृत्योः स्वभावतश्चोदयतेशनायाः ।
यतः स धर्म्मो मनसस्ततस्तन्मनोऽन्वयात्सर्वगताऽशनायाः ॥१५८॥

य एष तु व्यक्तिबलत्रयेण व्यूहोऽस्ति भावः स मनोऽभिधानाः ।
तस्मिन्प्रजज्ञे वयुनप्रभावाद् व्यूहोऽपरस्तं परतः प्रवक्ष्यते ॥१५९॥

११. चेतनाचातुर्विध्ये त्रिविक्रमचेतनाविचारः

(त्रिविक्रमचेतनाधिकरणम्)

चिच्चेतनाभ्यां ब्रह्मणो द्विभक्तित्वस्वाभाव्यम्

चेतास्वभावो बलवान् रसस्तताश्चिच्चेतनाभ्यां स सदा द्विभक्तिकः ।
तयोः स चिद्गर्भगतः प्रदक्षिणं स्वपूर्वमुद्भावयते न हीयते ॥१६०॥

तद्बृंहणं तस्य चितः स्वलक्षणं तद्बृंहणाद् ब्रह्मपदेन तं विदुः ।
वदन्ति तद् बृंहणमेव चेतनां तच्चेतनातो विविधत्वमेति सः ॥१६१॥

यस्यास्ति तद्बृंहणमेष चित्पदे नाख्यायते तं परितोऽस्य चेतना ।
स चिन्दुमात्रोऽपि महानवर्तत स्वचेतनातोऽन्वितरूप एकवत् ॥१६२॥

त्रिक्रमचेतनानिरुक्तिः ॥

बलैर्विनः नैष रसोऽनुलक्ष्यते रसं बलाढ्यं चितमाह तन्मनः ।
स एक आनन्द रसस्ततो बलं रसात्क्रमुत्क्रामति सास्य चेतना ॥१६३॥

उत्क्राम्यतस्तस्य रसात्सनोत्क्रमः स्थानं न तद्यत्र रसो न विद्यते ।
स्वोत्थानदेशात्परदेशसञ्चरद्बलस्य सोत्क्रान्तिरसोऽस्ति चेतना ॥१६४॥
स्थितस्य देशान्तरसङ्ग्रहोऽनया तत्र स्थितं नभ्यमिमं चितं विदुः ।
देशान्तरं त्वेष विगाहते यया भक्त्याभितो विक्रमचेतनाऽस्य सा ॥१६५॥
चिदस्ति कर्म्मेति गतिस्वभावं गच्छेदनज्ञानमतो न गच्छेत् ।
इत्थं यतः स्थास्नु चरिष्णु चास्तीत्युत्सद्य नोत्सीदति चेतना सा ॥१६६॥

विक्रमचेतनारूपसंस्थायां दृष्टान्तः ॥

यश्चेतनां संतनुते रसा स चिरस बिन्दुमात्रोऽस्ति ततो बलोत्थितिः ।
चितं परिश्रित्य विभाति चेतना बहुप्रमाणन्त्विह तत्परिस्तृतिः ॥१६७॥
अश्लक्ष्णवस्त्रे मषिबिन्दुपातनाद् द्रप्सो घनस्तत्र विभाति तद्बहिः ।
रसः परिस्रंस्य तनोति मण्डलं चिच्चेतने तद्वदिमे परात्परे ॥१६८॥
वायुर्यथाद्भिस्तनुते परिश्रितः सूर्य्ये विधौ वा परिवेषमण्डलम् ।
सूर्य्यो विधुर्वा तनुतेंऽशुमण्डलं तथा चितीयं परितोऽस्ति चेतना ॥१६९॥
शिखोर्ध्वगन्त्रीति स भिद्यतेऽर्थो गभस्तितः सर्वदिगाप्तिवृत्तेः ।
सा चेतना सर्वदिशीत्यतोऽन्या चित्राभिगोन्यो द्विरसं मनस्तत् ॥१७०॥
अत्राहुरीशानगतैव चेतना स्यात्सर्वदिग्व्यापि रसा न जीवगा ।
एकैकमेतं विषयं तु जीवगा साद्धात्मना धारयते न कार्त्स्न्यतः ॥१७१॥
ब्रूमस्तु जीवेऽपि हि सर्वदिग्विभूर्विमूर्छितस्योदयते कलेवरे ।
सर्वा दिशो यद्यपि सञ्चरत्यसौ तथापि स्वापेक्ष इहैकतो ग्रहः ॥१७२॥

ब्रह्मणो द्वेधा चतुष्पाद् भावः ।

ब्रह्म तु चेतयते यद् तेन चतुष्पात्प्रजापतिर्भवितुम् ।
प्रथते हृदयं प्रागथ विराट्[2] च यज्ञश्[3]च सर्वश्च[4] ॥१७३॥
अनिरुक्तोऽयं नभ्यो बिन्दुः स हि निर्विशेष एवास्ति ।
तत्रैवेदं हृदयं प्रथमा चेता चितो विशेषोऽस्ति ॥१७४॥
यं त्वन्नमयं मूर्तं पिण्डं पश्यामि स हि विराड् व्यक्तः ।
स चितः प्रजायतो हृदि तेन स हृदयः प्रजापतिः सोऽन्यः ॥१७५॥

अग्नित्रयं त्रिलोकाधिष्ठानं तत्र निविशते यावत् ।
हृदयविराट्कृतगर्भस्तावानेष प्रजापतिर्य्यज्ञः ॥१७६॥
अग्नित्रये तु यज्ञे सोमाहुतयो भवन्ति यल्लोकात् ।
तं सोमसंनिवेशं यावत्सर्वप्रजापतिर्ब्रह्म ॥१७७॥
एषोऽण्डकोष आन्दं सीमा चाख्यायतेऽन्वर्थम् ।
सीमान्तेऽयं सीमा मनसोऽन्यन्तेति मतभेदः ॥१७८॥
सीमाऽन्यन्ता येषां तेषामपि तच्चतुष्पदं ब्रह्म ।
सूत्रं विराट् तदन्तर्य्यामि शुद्धं तुरीयं स्यात् ॥१७९॥
उक्थत्रयमेकात्मा सोऽन्तर्य्यामी बहिर्विराडात्मा ।
बहिरस्मात्सूत्रात्मा स यजुर्वायुः परं स्पृशत्यमुना ॥१८०॥
आत्मा त्रयमेकात्मा सोऽन्नादशितिं समन्ततोऽश्नाति ॥
एष विशेषो योऽस्मिन्नविशेषस्तं तुरीयमित्याहुः ॥१८१॥
सर्वः सोमान्तो वाऽन्यन्तो वा निर्विशेष एवायम् ।
नभ्यो यः स हि सर्वस्तद् गर्भेऽन्ये त्रयः पादाः ॥१८२॥
विततोऽग्निरर्क एव त्वश्नन्नशितिं प्रपद्यते यज्ञः ।
उक्था दशितिं यावद् विततवान् सूत्रमिति चाहुः ॥१८३॥
ब्रह्म चतुर्वर्गोऽयं प्रतिजीवं च प्रतीश्वरं च समम् ।
सर्वेऽपि चतुर्वर्गा इतरचतुर्वर्गतोऽन्नमश्नन्ति ॥१८४॥
इत्थमिह ह्येकैका व्यक्तिर्या सा चतुष्पदी सर्वा ।
ब्रह्म चतुर्णामन्तःपादानां तन्मनोऽखिलं चैतत् ॥१८५॥
मन एवेदं पादत्रयपर्य्यन्तं विजायते तस्मात् ।
हृदयनिकायविभूतिप्रभेदतस्तत् त्रिविक्रमं ब्रूमः ॥१८६॥

विक्रमणनिरुक्तिः ॥

सा चेतना विक्रमणं तु यश्चितः स्थाने स्थितो दूरतरेऽवगाहते ।
यवीयसोऽर्था नशितुं प्रगल्भते यत्कर्मणा विक्रमणं यदुच्यते ॥१८७॥
चितोऽस्य तद्विक्रमणं त्रिधाऽभवत् बिन्दोऽस्तु यावद्धृदयं तदल्पवत् ।
ततो द्वितीयं तु निकायलक्षणं परं दवीयोऽस्य विभूतिलक्षणम् ॥१८८॥

विक्रम्य चाहारयतेऽन्नमात्मा स स्तोकमाद्ये बहुलं द्वितीये ।
तृतीयमाक्रम्य तु सोऽतिमात्रं सोमं गृहीत्वा परितृप्तिमेति ॥१८९॥

भुवनत्रयनिरुक्तिः ।

हृदयं दहर भुवनमिदमन्तरतरमस्ति हार्दभुवनं तत् ।
यस्तु निकायः सोऽन्तर्भुवनं तन्मूर्तभुवनं च ॥१९०॥
विभवस्तृतीयभुवनं पारावतमुत्तमं बहिर्भुवनम् ।
प्रत्यात्मं भुवनत्रयमेतद् ब्राह्मं त्रिविक्रमाद् भवति ॥१९१॥
भुवनं बहिः परोक्षं प्रत्यक्षं चान्तरं भुवनम् ।
सर्वान्तरं परोक्षं बिन्दुर्बीजं च नाद इति कल्पम् ॥१९२॥
भुवनं पुरी च संस्था मण्डलमिति वा समार्थकाः शब्दाः ।
व्यक्तिप्रचितं भुवनं भुवनाद् भुवनान्तरं सृष्टिः ॥१९३॥
योनिस्स्वात्मा भुवनान्यधितिष्ठति स च बिभर्त्ति सर्वाणि ।
सर्वस्स एक उक्तः प्रजापतिर्नभ्य एव स प्रथितः ॥१९४॥
प्रजापतिश्चरति गर्भेन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९५॥
(यजु०सं० ३१।१९)

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१९६॥
(ऋ० १०।१२१।१०)

१२. त्रिविक्रमचेतनायां हृदयविक्रमविचारः ॥

(हृदयाधिकरणम्)

वीर्य्यत्रयलक्षणानि

ये चाविशेषादभवन् विशेषा उक्थादयस्ते खलु वीर्य्यकोशाः ।
क्षत्रं च विड् ब्रह्म च तिस्र एवैता जातयो वीर्य्यविधासु सिद्धा ॥१९७॥
विद्याद् ब्रह्मज्ञान-विज्ञान-वेदा-वाप-व्योमोक्थत्व-यज्ञादिधर्म्मान् ।
क्षत्रं राष्ट्रं चेश्वरत्वं प्रभुत्वं संभोक्तृत्वं शासकत्वं वशित्वम् ॥१९८॥

विड् धर्म्माश्चेड्वर्कपशुक्षेत्रसंपद्भोगा अन्नं श्रीऽयतिहाररप्यः ।
वीर्य्यैरेभिर्वृंहशैः पौरुषेयैऽर्शतं सर्वं पौरुषं हीदमस्ति ॥१९९॥

हृदयस्य त्रिवीर्य्यत्वचेतना ॥

बलत्रयग्रन्थिवशान्मनोऽभून्मायाशनायोर्मिमयं हृदाख्यम् ।
तत्राशनायोत्थितमस्ति वीर्य्यत्रयं चितं सोऽस्य हृदः स्वभावः ॥२००॥
मनश्चिदेकं खलु वीर्य्यभेदात्त्रेधा यदा ब्रह्म तनोति वीर्य्यम् ।
ब्रह्मोच्यते तर्हि यदा तु वीर्य्यं क्षत्रं प्रधत्ते स तदेन्द्र उक्तः ॥२०१॥
विड्वीर्य्यभक्त्याऽभवदेष विष्णुस्तदित्थमेकस्त्रिविधं स्वरूपम् ।
धत्तेऽथ विष्णुः प्रचितः स इन्द्रे स ब्रह्मणीन्द्रः प्रचितश्चिदेषः ॥२०२॥

हृदयस्य चतुष्पात्त्वचेतना

व्योमनि परमे नद्धं पृथ्वी वाग् व्योम तत्र शारीरम् ।
व्योम च तस्मिन् हृदयाकाशं हृदयं चतुष्पदं तस्मात् ॥२०३॥
परे व्योम्नि यदस्ति हि तद्भूवाच्यस्ति तच्छरीरेऽस्ति ।
हृदयेऽनुवर्तते तत्सर्वं यदि नापवार्यते जाड्यात् ॥२०४॥
अत एव योगिनोऽसावात्मा यद्यद्यथेच्छति प्रायः ।
तत्तत्सर्वं हृदयादेवोत्थापयति विद्यया योगात् ॥२०५॥
हृदयग्रन्थिविमोके हृदयार्था व्योम्नि यन्ति शारीरे ।
शारीरार्थाः पृथ्व्यां पृथ्व्यर्था व्योम्नि परमेऽन्ते ॥२०६॥

१३. त्रिविक्रमचेतनायां निकायविक्रमविचारः

(निकायाधिकरणम्)

देवता-भूत-पञ्चकाभ्याममृतमर्त्याभ्यां चेतना-द्वैविध्यम्

आत्मास्ति चित् तत्र च चेतना द्विधाऽमृता च मर्त्या च निचीयते सह ।
तत्रामृता पञ्चतयी तु देवता मर्त्या पुनस्तत्र च भूतपञ्चकम् ॥२०७॥

ऊर्ध्वं चरत्कोऽपि तिरश्चरन्नप्यर्वाक् चरन्नग्निरिति त्रिधास्ति ।
वाक्प्राणचक्षुःपरमादधानास्त्रयोऽपि तेऽध्यात्ममुपाविशन्ति ॥२०८॥
दिक्-चन्द्रभेदाद् द्विविधस्तु सोमः श्रोत्रं मनोऽध्यात्ममधिस्तृणाति ।
ते पञ्च देवाः प्रचरन्ति देहे प्राणा इमानेव विशन्त्यशेषाः ॥२०९॥
पर्जन्यमन्ये ब्रुवते दिशोऽस्याः स्थाने न सा विप्रतिपत्तिरस्ति ।
लोकत्रयान्तःप्रचितां दिशं तां पर्जन्यमाहुः शशिसूर्य्यसक्ताम् ॥२१०॥
वाग्वायुतेजोजलमृत्तिकाभिस्तूत्पद्यते मर्त्यमिदं शरीरम् ।
तदित्थमात्मन्यमृताश्च मर्त्याश्चीयन्त इत्यस्ति निकाय एषः ॥२११॥
निकाय एष क्षर एव यद्यप्युत्पद्यते नास्ति परात्परेऽस्मिन् ।
तथापि यद्यत्पुरुषेऽस्ति किञ्चित्तस्यास्ति सर्वस्य मनो निदानम् ॥२१२॥

निकायभुवनस्य बीजावापक्षेत्रत्वम्

त्रिभुवनमध्ये भुवनं प्रत्यक्षं यन्निकाय इत्युक्तम् ।
तस्य हि नाभिं हृदयं ब्रुवते चित्सास्ति चेतनायोनिः ॥२१३॥
एष निकायः क्षेत्रं तत्र यथा बीजमोप्यते तद्वत् ।
फलमुत्पन्नं भुङ्क्ते हृदयस्यात्मा मनो नाम ॥२१४॥

१४. त्रिविक्रमचेतनायां वैभवविक्रमविचारः
(विभूत्यधिकरणम्)

अग्नित्रयसोमत्रययोर्विभूतित्वम्*

अथो विभूतिर्हृदयात्पुरस्तादग्निस्त्रिधा विक्रमतेऽथ सोमः ।
ऊर्ध्वं चरन्कोऽपि तिरश्चरन्नप्यर्वाक्, चरन्नग्निरिति त्रिधास्ति ॥२१५॥
अग्निः स आद्योऽथ यमो द्वितीयस्तृतीय आदित्य इति त्रिधाऽग्निः ।
सोमः स वायुः स तथाप इत्थं सोमस्त्रिधा तं च भुनक्ति सोऽग्निः ॥२१६॥

---

*स्थानविशेषे प्रत्युत्पन्नो दैवो विकारविशेषो विभूतिः । "स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते–" इत्यादिश्रुत्या तथार्थावगमात् । अग्नित्रय-सोमत्रयविकाराणां विभूतित्वेऽपि तपोविभूतित्वं नावकल्प्यमित्याहुः । वस्तुतस्तु ब्रह्माद्यक्षरत्रयापेक्षया तयोरप्यस्ति विभूतित्वम् ।

वैराजभुवनत्रयम्

आद्यग्निमात्रे तु निकायसंस्था संस्थेयमादित्यकृता द्वितीया ।
ताभ्यां परस्तात् त्विह सोमसंस्था वैराजमेतत् भुवनत्रयं स्यात् ॥२१७॥

चिदात्मनस्त्रिविक्रमत्वम्

एषां त्रयाणामिदमेकमन्तश्चिदाख्यमालम्बनमस्ति नित्यम् ।
एकः स वै विक्रमते त्रिधेत्थं त्रिविक्रमं तेन तमाहुरार्य्याः ॥२१८॥

प्रतिविक्रमं विवर्तत्रैविध्यम्

प्रत्येकतद्विक्रमणे विवर्तत्रयं पृथक् स्यादिव कल्पयन्ते ।
तच्चोक्थमर्कोऽशितिरित्यधीतं पृथक् पृथक् तच्च विवेचयामः ॥२१९॥

१५—हार्दिकचेतनायां विवर्तत्रयम् ॥

(हृदयविवर्ताधिकरणम्)

उक्थे हृदयशब्द-हृच्छब्दौ ॥

रसो विभुर्यत्र बलैकबन्धावच्छिन्नतामेति स उक्थ आत्मा ।
ततो बलानि प्रचरन्ति नश्यन्त्येषाऽत्मवृत्तिश्च तदात्मकर्म्म ॥२२०॥
ज्ञानक्रियार्थो हृदयस्य चेता चैतन्यमेतैरिह चेतनस्य ।
ज्ञानोदयो नास्ति मनो व्यपाये प्राणव्यपाये च न तत्र कर्म्म ॥२२१॥
एष स्वभावो यदितो बलानि प्रोत्थाय नश्यन्त्यपि वेष्टयन्ति ।
तमर्कमाहुः स हि कर्म्म तत्तत् प्रकुर्वतामात्मबलक्षयोऽस्ति ॥२२२॥
बलानि नद्धानि यदुत्थितानि स्युरात्मनस्तेन स उक्थ आत्मा ।
स्रस्तांशपूर्त्यै हृदयं परस्मात् तस्मात्स आत्मा हृदयं च हृच्च ॥२२३॥
चतुर्दिशं यान्ति यदर्कधारास्तन्मण्डलस्यान्तर एतदुक्थम् ।
तत्सर्वतश्चाहरति प्रपूर्त्यै तस्मात्तदुक्थं हृदयं वदन्ति ॥२२४॥
विष्णुर्हरत्येष ददाति चेन्द्रो ब्रह्मा तु यातोऽस्त्यखिलैः सगम्यः ।
हृद्दातृ यद्धर्तृ च सत्यमेकं सत्त्र्यक्षरं तद्धृदयं वदन्ति ॥२२५॥

(शत.·····)

हृदयात्मनश्चतुष्पाद्भावः ।।

हृदस्ति चित्तत्र विराडथाग्निः सोमस्तदित्थं त्रिविधाऽस्ति चेता ।
स्वचेतनाभिस्तिसृभिः सहैषा चिदस्ति हृद्ब्रह्म ततश्चतुष्पात् ।।२२६।।

पाञ्चदैवत्यम् ।।

ब्रह्मेन्द्रविष्णू सह चाग्निसोमौ ततोऽस्त्यदैवत्यमिदं प्रसिद्धम् ।
आद्यत्रयं तत्र चिदेतदुक्थं तच्चेतनार्कोऽग्निरशीति सोमः ।।२२७।।
पञ्चाक्षरं क्षत्रमिदं तदान्दं नामास्ति राष्ट्रं विविधं तदस्ति ।
तस्मिन्विराड् दृश्यत ऊर्ध्वमस्मादग्निश्च सोमश्च न दृष्टियोग्यौ ।।२२८।।
इन्द्रो हि तत्क्षत्रपतिः स आत्मा ब्रह्माश्रयो विष्णुसहाय एषः ।
विराडिदं वस्तु समीहतेऽग्नी राष्ट्रान्तरं राष्ट्रबहिस्तु सोमः ।।२२९।।
क्षत्रं हि सोमान्तमथाग्निसीमं राष्ट्रं पुरीन्त्युक्थमयी विराट् सः ।
ब्रह्मा तदन्तर्गृहमित्यमत्रोपमानतः सर्वमिदं प्रतीयात् ।।२३०।।

हृद्ग्रन्थेर्भूतात्मोक्थत्वम् ।।

अन्योन्यबन्धः समभूद्बलानां हृद्ग्रन्थिरित्युच्यत एष बन्धः ।
तदुक्थमात्मा तत एव वस्तुव्यक्तिः पृथक्त्वेन विभाति लोके ।।२३१।।

उक्थत्रैविध्यम् ।।

उक्थं त्रिवीर्य्यं प्रतिवीर्य्यभेदात् त्रयोऽक्षराः सन्ति समानबिन्दौ ।
धामच्छदत्वं क्षरभूतधर्म्मो न चामृतानामिति नास्ति बाधः ।।२३२।।
ब्रह्मा स यो ब्रह्मबलोऽग्निरिन्द्रो यः क्षत्रवीर्य्योऽथ स विष्णुरुक्तः ।
यो विड्बलस्तेभ्य इमे विभिन्ना अर्कास्त्रयोऽथाशितयश्च भिन्नाः ।।२३३।।

ब्रह्मनिरुक्तिः ।।

ब्रह्मप्रतिष्ठा हृदि तस्य सत्वे महेन्द्रविष्णू प्रतितिष्ठतोऽस्मिन् ।
हृद्ग्रन्थिरूपे बलबन्धनेऽन्तर्ब्रह्मा न चेद्ग्रन्थिरपीह न स्यात् ।।२३४।।
शब्दे विद्युति यद्यपि ब्रह्मास्तीन्द्र एक एकोक्थः ।
मन्ये तथाल्पविष्णुर्ब्रह्माऽस्त्यल्पप्रतिष्ठयाल्पस्स्यात् ।।२३५।।

इन्द्रस्सस्तिनिसर्गाद् ब्रह्मे तूक्रमते परान्तमायाति ।
विष्णुर्नास्ति ततोऽन्नालाभान्नाभौ पुनर्न तत्सिद्धिः ॥२३६॥
बर्हति बिभर्त्ति प्रवृद्धे चायं सोमोऽस्ति सर्वत्र ।
तस्माद्ब्रह्मैवात्मा स हि सर्वस्य प्रतिष्ठाऽस्ति ॥२३७॥
भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम् ।
बहु ब्रह्मैकमक्षरम्······　　　　(शत······)

ब्रह्मत्रैविध्यम् ॥

ऋक् सामे यजुरित्थं त्रिवृदेवास्ते सदैव स ब्रह्मा ।
ऋगिति महोक्थं साम तु महाव्रतं नाम यजुरर्कः ॥२३८॥
ब्रह्मप्रतिष्ठा[1] प्रभवः[2] प्रवृंहणं[3] तत्र प्रतिष्ठेयमृगस्ति साम च ।
यजुस्तु सर्वप्रभवः प्रवृंहणं त्वथर्वभृग्वङ्गिरसां कदम्बकम् ॥२३९॥
मूर्तिः सर्वा स्याद् ऋचां रूपमेवं सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत् ।
सर्वत्रैवं याजुषीयं गतिः स्याद् व्याप्तिर्ब्रह्म त्वङ्गिरोभ्यो भृगुभ्यः ॥२४०॥
यज्ञो येन छाद्यते छादनाद्वा यस्माद्यज्ञो रक्ष्यते सोऽस्ति वेदः ।
ऋग्सामाभ्यां प्राच्युदिच्योरवाच्यां प्रत्यग्गुप्तो ब्रह्मणा वा यजुर्भिः ॥२४१॥
ऋग्सामयोरस्ति यदस्ति किञ्चित्सर्वं प्रजज्ञे यजुषस्तु वाचः ।
भृग्वङ्गिरो ब्रह्म तु भेषजं स्याद् विलिष्टसन्धानमथर्वणाहुः ॥२४२॥
ऋग्सामे स्वयमेव तु वितते भवतोऽन्यकर्षणाश्च यजुः ।
पुरुषं निरूपयिष्यन्नेषां रूपाणि दर्शयिष्यामि ॥२४३॥

इन्द्रनिरुक्तिः

इन्द्रोऽस्तीश्वरवचनो जनतायामिन्द्र एक एव स्यात् ।
प्राणः शिव एवेन्द्रो यावदयं हृदि नु तावदेव वायुः ॥२४४॥

इन्द्रत्रैविध्यम्

व्योम[1] च तेजो[2] वायुस्त्रिवृदिन्द्रो व्योम चेह वाङ्मनसे[2] ।
आयुर्विद्युत्[2] प्रज्ञा[3] तेजोऽथ च भूतभावनो वायुः ॥२४५॥
इन्द्रो विद्युद्ब्रह्मणि सर्वाश्चेष्टास्ततः प्रवर्तन्ते ।
इन्द्रः क्षत्रं क्षत्राधिनौ ब्रह्मा च विड् विष्णुः ॥२४६॥

वरुणं परितो विद्युत् तपतीश्वरविग्रहे यदा याति ।
सा जीवविग्रहेऽस्मिन्प्रज्ञायां संगताऽऽयुरित्युक्ता ॥२४७॥
यत्सूर्य्यचन्द्रतेजः पृथ्वीमासाद्य जीवविग्रहं याति ।
तत्र यदीश्वरशिरसस्तेजः सङ्गच्छते नु सा प्रज्ञा ॥२४८॥
वायोर्मर्त्या अमृतास्तेजस इत्थं द्विधा प्रजा वाचि ।
छन्दस्यमृता मर्त्या आकाशेऽस्मिन् स वागिहाकाशः ॥२४९॥
यज्ञो द्विधा जीवनयज्ञतोऽस्ति प्रजापतिस्स्रस्ततनुप्रपूर्तिः ।
स सृष्टियज्ञः खलु यत्र यज्ञोच्छिष्टं प्रतिष्ठापयतेऽन्न उक्थम् ॥२५०॥
अर्कोऽशनायामितमेव भुक्त्वा जहाति तत्राधिकमाप्तमन्नम् ।
उच्छिष्टमेतत्तनुतेऽन्ययज्ञं ब्रह्मप्रतिष्टं तदिहार्थजन्म ॥२५१॥
यं ब्रह्मविस्रस्तरसं विगृह्णन्नुत्क्रामतीन्द्रः पथि तत्र किञ्चित् ।
स्तभ्नाति भागं पवनः स यज्ञात्स्कन्नस्तदुच्छिष्टमतोऽन्ययज्ञः ॥२५२॥
उच्छिष्टे नाम रूपं च उच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥२५३॥
उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् ।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥२५४॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः ॥२५५॥
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ।
एकादशेऽथर्वकाण्डे सप्तमे सूक्त उच्यते ॥२५६॥ (अथर्व० सं० ११।७।४)
प्राणोऽर्क एषोऽन्नमुपार्ज्य तर्पयत्युक्थं मनस्तेन च वाङ्मनो भवेत् ।
ततोऽर्क उत्थाय परान्तभागतः श्लेषोऽन्नभूतः पुनरेव वाग्भवेत् ॥२५७॥
इत्थं नु वाचो मनसोऽपि चोत्तरोत्तरि क्रमो योऽविरतं प्रवर्तते ।
प्रागैतरेयो भगवानुवाच तं यज्ञं ततोऽथो न चिराय नश्यति ॥२५८॥

विष्णुनिरुक्तिः

अङ्गं ब्राह्मं स्रस्तं पूरयितुं विष्णुरन्नमयकोशम् ।
धत्ते तस्मादिन्द्रो विभजत्युक्थांश्च पोषयति ॥२५९॥

विष्णुः स उक्थभागो यज्ञो येन प्रवर्तते तत्र ।
यज्ञोऽन्नमुच्यतेऽस्मादन्नोर्कप्राणक्रमोत्क्रमौ भवतः ॥२६०॥
प्राणश्चोऽर्कश्च तथाऽन्नं त्रिवृदित्थं विष्णुरयमस्ति ।
मिथ इह परिग्रहो यस्तेषां यज्ञः स विष्णुः सः ॥२६१॥

विष्णुत्रैध्यम्

विष्णुस्तृतीयोऽप्युदितस्त्रिधायं विश्वम्भरो[1] नाम विराट्[2] स यज्ञः[3] ।
तृतीयमुक्थं ह्यमृतं स विश्वम्भरः[1] स विश्वम्भरतीदमन्नैः ॥२६२॥
मर्त्यं हि तद्विश्वमिहामृतं तन्मर्त्यामृताभ्यां क्रियते विराट् सः ।
त्रिविक्रमो नाम स यज्ञ[3] विष्णुर्यावान् विराजः क्रियते वितानः ॥२६३॥
येयं पृथिव्यस्ति विराट्[1] स भाव्यो विश्वं हि तन्मर्त्यमिहामृतं तत् ।
विश्वम्भरो नाम तृतीयमुक्थं रथन्तरं साम तु यज्ञसंस्था[3] ॥२६४॥
देहो विराड्[1] विश्वमिहामृतं तत्पर्य्याप्त[2]मालोमनखाग्रमन्नात् ।
बहिस्तु वैतानिकयज्ञ[3] विष्णुर्यावत् तमालोकयते तु देहम् ॥२६५॥

यज्ञपरिभाषा

अग्नौ युतिर्यज्ञ इति स्थितिः स द्विधाऽऽहितेर्वा क्वचिदाहुतेर्वा ।
यत्राग्निरेवाहित एतदग्नौ चितिः स यज्ञोऽग्निविवृद्धिहेतुः ॥२६६॥
स्यादाहुतोऽग्नौ यदि सोम एषोऽध्वरस्तदाऽत्तैव विभाति नान्नम् ।
अत्ताग्निरश्नाति हि सोममन्नं तत्रान्नमत्तुर्लभते स्वरूपम् ॥२६७॥
तत्रोभयत्रापि युतौ यथार्थयोर्नश्यन्ति कर्म्माणि च रूपनाम्नि ।
आविर्भवन्त्यत्र नवानि तान्यतो द्वैतं निवर्त्योदयते तदेकता ॥२६८॥
तामीदृशीमेव युतिं प्रचक्षते यज्ञं रिरं नाग्निरिहोपशाम्यति ।
प्राणोगं बलाकृष्टमिहान्नमूर्ग् भवत्यूर्क् प्राण ऊर्जाऽन्नमयं न कर्षति ॥२६९॥
यज्ञं विना विश्वमिदं न संभवेद्ग्रस्तं मनस्तं च न तस्य जीवनम् ।
यज्ञक्रियाध्वंसत एष वस्तुनो ध्वंसः स यज्ञः परमः प्रजापतिः ॥२७०॥

उक्थत्रयपरिभाषा ॥

एकस्मिन्निह बिन्दौ नाभ्यां ब्रह्मेन्द्रविष्णवः क्लृप्ताः ।
बिन्दुविवेकादपि ते क्वचिदुपतिष्ठन्ति केनचिद्विधिना ॥२७१॥
अश्वत्थादिषु शाखिषु मूले ब्रह्माऽथ मध्यतो विष्णुः ।
अग्रे त्विन्द्रः शिव इति हृदि नाभौ शिरसि ते नृतु तु ॥२७२॥
न चाथ बालं पृथगासते ते कर्म्मापि तेषां तु पृथक् प्रतीयात् ।
ब्रह्मा प्रतिष्ठेति हि मूलमिन्द्रस्त्वग्रे सरोऽन्तर्नयते तु विष्णुः ॥२७३॥
उरः शिरश्चोदरमित्थमेतास्तिस्रो गुहाः सन्ति हि जीवदेहे ।
मस्तिष्कहृन्नाभिषु सन्ति चोक्थास्तेष्वेक एकः प्रमुखोऽस्ति तेषाम् ॥२७४॥
प्रतीयते मूलविवर्तसंस्था प्राग्वत् त्रिपूकूथेष्वपि वीर्य्यभेदात् ।
ब्रह्मोक्थसंघं वृणुतेऽर्कसंघं त्विन्द्रोऽन्नसंघं तु बिभर्ति विष्णुः ॥२७५॥
ब्रह्मा स्थितिमिह धत्ते गतिमिह धत्तेऽखिलेष्विन्द्रः ।
विष्णुर्विकृतिं कुरुते त्रितयं सर्वत्र तारतम्येन ॥२७६॥
सत्तां च विज्ञानमनुन्मनस्कतां ब्रह्मा तनोत्येष धृतिं च विग्रहे ।
परेषु यद्विक्रमते प्रबाधते ददाति तत्सर्वमपीन्द्रवीर्य्यतः ॥२७७॥
प्राप्नोति गृह्णाति भुनक्ति यच्च वा स्वस्मिन्नुपायति हि किंचिदन्यत् ।
तच्चाखिलं विष्णुबलानुसारतः स्वयं भवत्यात्मबलान्यमूनि हि ॥२७८॥
वर्च्चो यशो ब्रह्मबलाच्छरीरे तेजः सहौजो भवतीन्द्रवीर्य्यात् ।
भ्राजः श्रियो विष्णुबलोपपन्नाः सौन्दर्य्यमात्मार्कमयत्रिधेत्थम् ॥२७९॥

मनसि नवरसोद्बोधस्योक्थनिबन्धनत्वम् ।

इन्द्रो वरुणश्चाग्निर्यम इति रुद्रश्च सोमश्च ।
वायुर्निर्ऋतिरिति चाष्टौ ब्रह्मणि ब्रह्मणोऽङ्गानि ॥२८०॥
ब्रह्मणि बृंहणतः स्वयमुद्भूया व्यक्तया वृत्ता ।
विधृतान्यूर्ध्वं सृष्टिक्रमतो व्यक्तानि जायन्ते ॥२८१॥
विष्णुर्बहिः प्रदेशादध्यात्मं कंचिदर्थमुद्धाव्य ।
विधुतमिन्द्रं सुप्तं प्रबोधयत्येष विक्रमते ॥२८२॥

इन्द्रो विद्युद्रूपो नोदनया ब्रह्मणोऽङ्गानाम् ।
यद्व्युत्थाप्योद्धरते तेऽष्ट रसा मनसि दृश्यन्ते ॥२८३॥
इन्द्रो वीरो वरुणः करुणाऽग्निर्हास्यमुद्भवति ।
यम आश्चर्य्यं रुद्रो रौद्रः सोमस्तु पञ्चधा प्रेमा ॥२८४॥
वायुर्भयमथ निर्ऋतिर्बीभत्सश्चेति मनसि रसाः ।
विद्युदनो देस्वरसं ब्रह्म मनः शान्तमक्षुब्धम् ॥२८५॥
श्रद्धा श्रेयसि सदृशे स्नेहोऽथ कनीयसीह वात्सल्यम् ।
कामो जडे रतिस्तु स्त्रियामिदं पञ्चधा प्रेम ॥२८६॥
विद्युद् ब्रह्म रसं यं नोदयति पृथक् स उत्थितो भाति ।
प्रज्ञा मनसो भागस्तत्रोत्थे नियुक्तबलमिन्द्रः ॥२८७॥

अग्नि–सोमयोर्निरुक्तिः ।

उक्थत्रयस्य महिमा प्रवर्ततेऽग्निश्च सोमश्च ।
अग्नित्रयं पुरस्तात् पश्चात्सोमद्वयं श्लिष्टम् ॥२८८॥
अग्निः प्रसरति नाभेः परितः संकुचति नाभिमभि सोमः ।
विरलत्वहेतुरग्निः सोमः सर्वत्र सान्द्रता हेतुः ॥२८९॥
सोमेन प्रबलेन प्रत्यवरोधाद्वतंभरोस्त्यग्निः ।
तत्र तदग्निस्वापाद् विरलत्वं सोमतो निहतम् ॥२९०॥
सोमेन मूर्च्छितोऽग्निः सुप्तः स्त्यानात्वं एष चित्यश्च ।
अमृतश्चिते निधेयः सोमो भुङ्क्ते स सोमतोऽस्त्यजितः ॥२९१॥
हेमायःप्रभृतीनामग्नीनामस्ति सोमतो घनता ।
अत्रिः प्राणः सोमं जनयति रक्षति ततो न दाहोऽस्य ॥२९२॥
अत्रिश्चास्मिन् रुन्धे तेन प्रतिफलनमस्ति रश्मीनाम् ।
अत्रिप्राणाभावे, काचोऽच्छः पारदर्शको भवति ॥२९३॥
सोमो भूयानग्नौ प्रबलेऽप्यत्रेर्न दह्यते यत्र ।
जलमिव तरलं रूपं प्रजायते तत्र बलसाम्यात् ॥२९४॥
सोमो यत्र कनीयान् बलवानग्निः स सोममश्नाति ।
अत्रेस्तु तारतम्याद्वायुविधं विरलरूपमुद्भवति ॥२९५॥

यत्र क्षरं न रूपं संयोगाभावतोऽस्य सोमस्य ।
अव्यक्तः परमाणुर्देवस्याप्यस्य घन एव ॥२९६॥
नानाजातीयेष्वपि परमाणुषु यत्र दृश्यते घनता ।
ते सर्वे सोमाः स्युर्विरलत्वन्त्वग्नयो देवाः ॥२९७॥
आग्नेयः प्राणोऽन्यः सोमोऽन्यस्तदुभयान्वयतः ।
वाक् सृज्यतेऽथ वाचो भवन्ति भूतानि देवाश्च ॥२९८॥
आत्मन उक्थान्मनसः प्राणौ द्वौ तद्युतिर्या वाक् ।
सर्वे तत्परिणामाः सर्वं जगदग्निषोमीयम् ॥२९९॥
अमृता वाचो देवा मर्त्या वाचस्तु भूतानि ।
नैभ्योऽतिरिक्तमीक्षे वागेवेदं ततः सर्वम् ॥३००॥

अग्नेरुक्थार्कत्वम्

अर्का अग्नय उक्ता मर्त्यामृता भेदतो द्विधा ते स्युः ।
भूर्वा भुवः स्वरिति वा मर्त्या अमृतास्तु ऋग् यजुः साम ॥३०१॥
ऋक्सामे इह नित्यं प्रतिष्ठिते आत्वथर्वणो वेदात् ।
यजुरग्निस्त्वयमर्कः प्रचरति तत्रैष आहुतः सोमः ॥३०२॥
योऽर्चंश्चरति तमर्कं ब्रुवते ऋक्सामयोरचारित्वात् ।
न परेऽर्कत्वं ब्रुवते साम्न ऋचश्चोपलक्षणं तत्स्यात् ॥३०३॥

ब्रह्मचेतना

महदुक्थं च महाव्रतमानर्कश्चेति चेतनास्तिस्रः ।
ब्रह्माभिधचित इष्टास्तत्राग्न्यर्के शितेर्योगः ॥३०४॥
महदुक्थं च महाव्रतमेते नित्ये परैर्न भुज्येते ।
दुर्बलमर्कं प्रबलोऽन्यार्कः कर्षति वशे कुरुते ॥३०५॥
ब्रह्मोक्थार्को वेदो दूरस्थितवस्तुनो वेदम् ।
चक्षुषि गृह्णन् प्राज्ञोऽशितिमश्नन्नवस्तु जानाति ॥३०६॥
स्वोक्थस्यार्कः साक्षी तदयं विधृतोऽपि चक्षुषो देशे ।
प्राज्ञेन तूक्थदेशेऽवधार्य्यते वस्तुरूपं तत् ॥३०७॥

उक्थे महोक्थसाम्यं महदुक्थवयो महाव्रतं तूक्थे ।
ह्रस्वत्वं नाधोऽस्मिन् प्राणोऽर्को येन संभृता वर्णाः ॥३०८॥
चक्षुषि पित्तवता खलु शंखः शुक्लोऽपि दृश्यते पीतः ।
तत्पित्तवर्णमशितिं गृह्णात्यग्निः स वयुनमत्रार्कः ॥३०९॥
एष हि चक्षुर्ग्राह्यो वेदोऽर्को नाभविष्यदिह चेत्सः ।
दूरं वस्त्वस्पर्शात्सत्यपि चक्षुषि न गृह्येत् ॥३१०॥

इन्द्रचेतना

व्योम च तेजो वायुस्तिस्रो याश्चेतनाश्चिदिन्द्रस्य ।
व्योमैव तत्र नित्यं वायुस्तेजः परैश्च कृष्येते ॥३११॥
इन्द्रोक्थार्को वस्तुनि भारो न त्वेष वस्तुनिजधर्म्मः ।
पार्थिवमुदकं वायुं कर्षति भूम्यर्क एष सा गुरुता ॥३१२॥
इन्द्रः परमाक्रमते येन बलेनैष तद्गतः प्राणः ।
उत्क्षिप्तलोष्टवत् तद्वस्तु विकर्षति निजोक्थसमदेशे ॥३१३॥
वन्हौ दिव्येन्द्रार्को बलवत्कर्षति ततोऽर्चिरूर्ध्वदिशि ।
प्लवतेऽर्कद्वयघाते यो बलवान् तस्य विजयः स्यात् ॥३१४॥
इन्द्रार्कः खलु विद्युद् वस्त्वन्तरविद्युतं तूक्थ्यम् ।
स्वल्पामात्मनि कर्षति ते नान्यत् सज्जतेऽन्यस्मिन् ॥३१५॥
नेन्द्रो वयोऽपहरते न चान्यवयसा विलिप्टमङ्गं स्वम् ।
एषभिषज्यति किन्तु स्ववशे स वयः करोति परवयुनम् ॥३१६॥

विष्णुचेतना

प्राणश्चोर्क् च तथाऽन्नं तिस्रो याश्चेतनाश्चितो विप्णोः ।
प्रबलैर्बलानुसारात् तिस्रोऽप्येताः क्वचिन्नु कृष्यन्ते ॥३१७॥
विष्णुस्त्रिविधमिहान्नं परतः कर्षति दधाति चात्मनि तत् ।
परवयसा संभरति क्षीणमिहांशं ततः पुरं याति ॥३१८॥
ब्रह्माग्निः सीमान्नं गत्वा शिथिलः स सोमकं याति ।
तं स्वाङ्गशीतसोमं प्रत्यावर्तयति विष्णुरुक्थाय ॥३१९॥

इन्द्रो विष्णुसहायो बलवानबलस्य कस्यचित्पुरतः ।
अग्निं प्रत्याकर्षति विलिष्टोऽसौ प्रवर्ग्यसोमः स्यात् ॥३२०॥
सूर्य्यांशुघर्षसिद्धो धर्म्मो वैश्वानरोऽस्ति योऽग्निरिमम् ।
सूर्य्याप्रवृत्तमनिलाश्मादिषु सक्तं निशीह पश्यन्ति ॥३२१॥
घटपाकेऽनुगतं जरुमुत्थाप्याग्नेरिहांशुराविशति ।
कालेन शीतभूतः प्रवर्ग्यसोमः स एवमन्यत्र ॥३२२॥
विस्रसंनाद् विरिक्ते स्थाने विशति स्वयं विभुः कश्चित् ।
प्राणश्च इवश्रान्तेऽङ्ग्रौ स हि दिक्सोमस्त्विवान्नमित्येतत् ॥३२३॥

अर्कस्याग्नेस्त्रैभाव्यम्

ब्रह्मेन्द्रविष्णुभेदात् त्रिविधो यजुरग्निरिष्यते बहुधा ।
अग्निर्वायुश्चन्द्रो वरुणश्चेत्यग्नयः केचित् ॥३२४॥
गायत्री च त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुप् च तेऽन्ये स्युः ।
आहवनीयो दक्षिण आन्तर इति गार्हपत्योऽन्ये ॥३२५॥
पृथ्व्यन्तरिक्षमपि च द्यौश्च समुद्रश्च ये लोकाः ।
मर्त्या अग्नय एते मर्त्येष्वमृताग्नयो निहिताः ॥३२६॥
वसुरुद्रादित्येन्द्रा आहवनीयेऽथ दक्षिणे पितरः ।
पशवोऽन्तरा तथाग्नौ सन्ति मनुष्यास्तु गार्हपत्येऽग्नौ ॥३२७॥
एषामेकैकोऽग्निः पवमाने सोम इति हि सोऽन्योऽर्कात् ।
तस्याथर्वणि वृत्तिर्येऽन्ये तेषां तु वृत्तयो यजुषि ॥३२८॥

अशितेः सोमस्य त्रैभाव्यम् (दिक्)

दिक्पवमानश्चन्द्रः सोमस्त्रिविधो यदग्निरर्कोऽङ्गम् ।
उक्थस्य बहिर्गमयति तद् दिक् सोमः प्रपूरयन्नेति ॥३२९॥
यदिदं मनः परात्परमत्रोक्थादुत्थितोऽर्को यः ।
स गतः परान्तदेशं सोमो भवतीति पूर्वमाख्यातम् ॥३३०॥
दिक्सोमः परितोऽस्मिन् भूपिण्डेऽन्यत्र वा पिण्डे ।
स्वयमनुवर्षति शश्वत् तेनाग्नेरुग्रता ह्रियते ॥३३१॥

पवमानः

पवमानस्त्विह सोमः प्रत्यर्थं स्यात् तदर्कतः प्रान्ते ।
प्रतिविग्रहमयमेवं ध्रियते तस्मिन्परात्पराधानात् ॥३३२॥
यदिदं मनः परात्परमत्रोकूथादुत्थितोऽर्को यः ।
स गतः परान्तदेशं सोमो भवतीति पूर्वमाख्यातम् ॥३३४॥
पुरुषेषु क्रमतस्तात स्थौल्यात्प्रव्यक्तिमायाति ।
परमाणोश्च पृथिव्याः सूर्य्यस्याप्यन्ततः स सोमोऽस्ति ॥३३४॥

ब्रह्मणस्पतिः

विग्रहसंस्थायामपि पृथ्वीं परितश्चरत्ययं चन्द्रः ।
सूर्य्यालोकस्यान्ते परिचरति ब्रह्मणस्पतिः सोमः ॥३३५॥
प्रतिविग्रहं तदुकूथार्कान्ते सीमन्त एष सोमोऽस्ति ।
देहाग्नौ तपसेऽद्धे स मनः पूतं करोत्युपेत्यात्र ॥३३६॥
"पवित्रन्ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्य्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृना स इद्वहन्तस्तत् समाशत" ॥३३७॥
(ऋ० ९-८३-१)

तपसा मनसि क्षीणे तत्पूर्तिर्येन जायते सद्यः ।
सोऽयं पवित्रसोमो न ऋते तपसः समीयते मनसि ॥३३८॥
तपसा विना तु देहाद् विद्युत इन्द्रस्य नित्यमुत्क्रमणात् ।
एत्योपतिष्ठत्यऽसावायन्नायुः स आत्मनो भवति ॥३३९॥

चन्द्रः

सोमो यदा तु सूर्य्यात्तप्तो दीप्तः प्रकाशते किरणैः ।
चन्द्रः स सोम उक्तः सोमस्याद्भिः स जायते मिथुनात् ॥३४०॥
इत्थं त्रिविधे सोमे दिक् त्वाग्नेय्यस्ति चन्द्र आप्योऽस्ति ।
वायव्यः पवमानो वायुविधोऽग्निश्च सोऽस्ति पवमानः ॥३४१॥

१६—निकायविवर्ताधिकरणम्

अथ निकायचेतनायां विवर्तत्रयम् ।

निकायभागे त्वयमुक्थ आत्मा मर्त्योऽयमन्नादमृतं तदन्नम् ।
निधाय गर्भेऽमृतमेष यस्मादात्माश्रितो जीवति मर्त्यभागः ॥३४२॥

अथापि वाऽन्नादमृतं तदन्नं मर्त्यं शरीरं स हि भूतसंघः ।
भूतान्यधिष्ठाय तु देवतानि प्राणा न निर्यान्ति यदात्मनोऽस्मात् ॥३४३॥

इत्थं च मर्त्यामृतयोः स्वभावादन्योन्यमाद्यात्त्रिविधोपपन्नाः ।
यद्वा निकायेऽप्ययमग्निरन्नादर्कोऽस्ति सोमोऽशितिरस्ति चाग्नेः ॥३४४॥

१७—विभूतिविवर्ताधिकरणम्

अथ विभूतिचेतनायां विवर्तत्रयम् ।

१—चितिस्वभावकृतं मूलविवर्तत्रयम् ।

चित्यो निसर्गोत्थितचेतना क्वचित्परान्नमागत्य जहाति तां गतिम् ।
तथा तु रूपान्तरमाप्य सा पुनः प्रभुज्यते चेतनया निवर्त्यते ॥३४५॥
चिदेव गत्या कृतभिन्नतावशाद् या चेतनाऽभून्न हि सा चितः पृथक् ।
श्लथत्वमागत्य तु भिन्नरूपधृक् प्रवृज्यते साप्यत एव भुज्यते ॥३४६॥
चिदुक्थमर्कोऽस्य तु चेतनाथ च प्रवर्ग्यभागोऽशितिरत्र सज्यते ।
इत्थं विवर्तत्रयक्लृप्तमादितः परात्परं नाम मनस्तदुच्यते ॥३४७॥
उक्थे तथार्केऽप्यशितौ च भेदान्नाधं वयस्तद्वयुनं च विद्यात् ।
चिच्चेतनाभ्यां च यदेकरूपं तत्रापि नाधाद्यविशिष्य विद्यात् ॥३४८॥
प्रवर्ग्य एष द्विविधोऽभिपद्यते भुक्तोऽनया चेतनयात्मसाद्भवेत् ।
भुक्तात् यदुच्छिष्टमितः पृथग्विधः प्रणीयते चित्पृथगर्थभावनः ॥३४९॥
एष स्वभावो मनसो मनोन्वयात् प्रत्यर्थमेषाऽभ्युपपत्तिरिष्यते ।
अर्थानपूर्वान् पुरुषा विलक्षणान् सृजन्ति तूच्छिष्टगतान्ययोगतः ॥३५०॥

२–मायाकृतं मूलविवर्तत्रयम् ।

यद् दृश्यते तत्क्षरमेव सर्वं तत्राक्षरोऽन्तः पुनरव्ययोऽन्ते ।
यदव्ययस्यान्तरतो मनस्तत्परात्परं नाम तुरीयमस्ति ॥३५१॥
विभज्यतेऽङ्ग त्रयतस्तुरीयं प्रान्तश्च नाभिश्च परिच्छिदश्च ।
परिच्छदः स्यात्परिणाह एतद्गर्भे क्वचिद् बिन्दुरयं स नाभिः ॥३५२॥
परिच्छदप्रान्तगतो रसोऽन्यः परिच्छदस्यैव तु कालपाकात् ।
गर्भस्थबिन्दोरुपभोगहेतुर्नित्यं स्वतः संस्रवते स नाभौ ॥३५३॥
प्रान्तं ततः स्यादशितिः परिच्छदस्त्वर्कोऽथ नाभिः पुनरुक्थ उच्यते ।
माया स्वभावादिव तन्मनोऽभवत्त्रिभक्ति तस्मादखिलं त्रिभक्तिकम् ॥३५४॥

३–ऋतसत्यकृतं मूलविवर्तत्रयम् ।

ऋतं च सत्यं च चितः स्वभावो विस्रंसनान्नित्यविरिक्तमङ्गम् ।
ऋतं तथा संभरणं यदस्मिन्नित्यं ततः सत्यमनूनमङ्गम् ॥३५५॥
सत्यं तु भावाद् ऋतमस्त्यभावादृतं च सत्यं च विपर्य्ययेण ।
प्रवर्तते क्वापि सहद्वयं तत्क्वचिच्च कालान्तरतोऽपि दृष्टम् ॥३५६॥
ऋते हि सोमो विशतीति कृत्वा सोऽब् वायुवत्स्यादृतधाम नाम्ना ।
यमोऽग्निरादित्य इति त्रयं तु स्यात्सत्यरूपं त्रय एव तेऽर्काः ॥३५७॥
ऋतं च भूत्वा भवतीह सत्यं सत्यं च भूत्वा भवति ह्यृतं यत् ।
विद्यात्तदुक्थं ह्यृतसत्यरूपं क्षुधात्तवृत्तं तत्सहितं तु सत्यम् ॥३५८॥
सोमऽस्त्यृतं तत्प्रवणत्वहेतोरापोऽप्यृतं सौमिक लोकतातः ।
सत्यं तु लोकत्रयमग्निभाक्त्वादग्निर्हि सत्यं तत एव वेदः ॥३५९॥
अग्निस्त्रिलोक्यामधिपः पिता द्यौस्ततः परस्ताद् ऋतमस्ति सोमः ।
सूत्रेण तन्मेधत उक्थ इन्द्रः सूर्य्योऽशुनेवेति च वत्स आह ॥३६०॥
'अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ······।
अहं सूर्य्य इवाजनि'मं. ८ सू. ६ ऋ. १० ॥३६१॥
सोमप्रवाहेण विपूर्य्यमाणाः प्रजां च सोमस्य विपूरयन्तः ।
प्रपद्यथा तत्र भवेत्तथैतेऽग्नयो भरन्तीति च वत्स आह ॥३६२॥

'प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः······।
विप्रा ऋतस्य वाहसा, मं० ८ सू० ६ ऋ० २ ॥९॥३६३॥

४—व्यक्तिबलत्रयकृतं मूलविवर्तत्रयम् ॥

वयः खलूक्थं वयुनं तु तस्मिन्प्राणोऽयमर्कः स वयो व्यपाये ।
तन्मात्रयैवोत्क्रमतेऽप्रतिष्ठः पुनः प्रतिष्ठाऽस्य वयस्युपाप्ते ॥३६४॥
यमर्थमीप्सत्यशितुं मनस्तद्रूपं तदुक्थोपगमाद् विधाय ।
तत्रैव तन्मूर्तिमयं नियुङ्क्ते प्राणं तमर्कं ब्रुवते चरन्तम् ॥३६५॥
व्युत्थानमेतद्वयसस्तदर्कोत्थाने निमित्तं द्विविधं तु तत्स्यात् ।
ध्वंसस्ततः क्वापि यथा क्षुधायां नित्यासतोऽन्यत्तु दरिद्रतायाम् ॥३६६॥
वयोवियोगे वियतो यतोऽर्कः प्रतिष्ठतेऽत्तु विपदे तदुक्थम् ।
मनोरसेऽर्चद् यददोऽचरत्तत्सोऽर्कोऽभवत्सोऽशितिमश्नुते स्वाम् ॥३६७॥
यतो यदुद्बुध्यति तत्तदुक्थं सोऽर्कोयमुद्बुध्यति भोक्तुमिच्छन् ।
अर्कोऽशितिं प्राप्य निवर्तमानस्तमुक्थमात्मानमलङ्करोति ॥३६८॥
क्षीरौदनं क्वाप्यशितं ततस्तत्संस्कार उत्पद्यत एतदुक्थम् ।
उद्बुध्यसंस्कारवशात्तदुक्था पुनस्तदिच्छाऽशितुमाविरस्ति ॥३६९॥
क्षीरौदनं नाशितदृष्टबुध्यं संकार उक्थं न बभूव तत्र ।
अनुक्थ उत्तिष्ठत एष नार्कस्ततोऽशनायोदयते न तत्र ॥३७०॥
जन्मान्तरोत्पादितसंस्क्रियामयं चोक्थं क्वचाजन्मत एव बुध्यते ।
काले विपाकात्क्वचन प्रबुध्यते संस्कारनाशात् त्विह विस्मृतिर्भवेत् ॥३७१॥

५—प्राणापानकृतं मूलविवर्तत्रयम् ॥

कुतश्चिदागत्य बलानि बिन्दौ संहत्य नद्धानि भवन्ति दार्ढ्यात् ।
उद्ग्रन्थ्यमानानि पुनर्बहिर्धा चरन्ति यावद्वियुतिर्न कात्स्न्र्यात् ॥३७२॥
प्राणः सयाऽऽयात्यशितिःस्पृदेषाऽपानस्तु निष्क्रामति यस्स चार्कः ।
यस्मिंस्तु नद्धानि बलानि बिन्दौ यतश्च निर्य्यान्ति पुनस्तदुक्थम् ॥३७३॥
प्राणश्चापानश्चेत्येषा नियताऽऽत्मनो वृत्तिः ।
निश्वासोच्छ्वासाभ्यां ताभ्यां जीवति तदुक्थमिति भाव्यम् ॥३७४॥

६—वीर्य्यत्रयकृतं मूलविवर्तत्रयम् ॥

चिदस्ति तावद् बलयोनिरस्मादाविर्भवन्तीह बलानि यानि ।
सा चेतना सा ह्यवलम्बयोनिर्निजां चितं तं परिवार्य्य भाति ॥३७५॥
वीर्य्यं चितो ब्रह्म तु चेतनायाः क्षत्रं मिते ते अमिते व्यभूताम् ।
ते चाशनाया वशतोऽविशेषात्स्वस्मिन् रसं संचिनुते सविट् स्यात् ॥३७६॥
ब्रह्माश्रयात्क्षत्रमुदेति तच्चाशितिं समाकर्षति सर्वतो याम् ।
क्षत्रं च तद् ब्रह्म च शश्वदेतां भुक्त्वाऽशितिं जीवति विट्च तद्वत् ॥३७७॥
यद् ब्रह्म वीर्य्यं तदिहोक्थमुक्तं यत्क्षत्रवीर्य्यं ब्रुवते तमर्कम् ।
विड् वीर्य्यमंशं त्वशितिं वदामस्त्रिकं सह ब्रह्म विवर्तमाहुः ॥३७८॥
ब्रह्मोक्थसामेत्यविशेषशब्दा यतोऽर्कतो वहति तं बिभर्ति ।
तस्मादिदं ब्रह्म समं यतोऽर्के सर्वत्र तत्साम निरुक्थमुक्थम् ॥३७९॥
वीर्य्यत्रयं ब्रह्मविवर्तरूपं परस्परेणानुगृहीतमस्ति ।
नचान्यदन्येन विना कृतं स्यात् क्षत्रात्मना ब्रह्मनिरुक्तभावे ॥३८०॥
नाधं वयस्तद्व्युनं मितत्वादुक्थे तथाऽर्केप्यशितौ च विद्यात् ।
व्यूहस्तिभिस्तैरिदमुक्थमर्कोऽशितिः पृथक् च त्रिकमन्वितं च ॥३८१॥

प्रहितां संयोग :

यः प्रहितां संयोगः क्षरपुरुषे चैतरेयमुनिनोक्तः ।
सोऽपि ब्रह्मविवर्तो मनसोऽनुगमात्प्रवर्तते पुरुषे ॥३८२॥
प्राणः पञ्चाध्यात्मं देवान्पञ्चाधिदैविकान्भेदात् ।
आत्मनि कृत्वा सद्यः स्वयमुपसर्पन्ति देवभवाय ॥३८३॥
बहुविधरसास्तु यद्यपि दिवं उपवर्षन्ति तुल्यवद्भूमौ ।
न समं सर्वे पृथ्व्यामध्यात्म वा गृहीताः स्युः ॥३८४॥
अर्का भिन्नविधास्ह दृश्यन्ते तेषु योस्ति यद्ग्रहणे ।
प्रवणः स स निजभोग्यं रसमुपभुङ्क्ते परं त्यजति ॥३८५॥
शब्दः प्रचरति साम्यात्किन्तु तमाहरति केवलं श्रोत्रम् ।
नान्येन्द्रियाणि न तनुर्न च वा भूमौ स्थितोऽन्योऽर्थः ॥३८६॥

रूपं पश्यति चक्षुर्न परो गृह्णाति सर्वतः प्रथितम् ।
अर्कश्चक्षुरिहात्मनि रूपं धत्तेऽशितिं दिवो मुक्त्वा ॥३८७॥

सूर्य्यः सप्तांशुषु कंचित्किञ्चित्कुसुमं बिभर्ति लघुकालम् ।
न तु सर्वाण्यपि सर्वांस्तस्मात् तान्यत्र भिन्नवर्णानि ॥३८८॥

लोहाभ्रसूतगन्धकरत्नाद्युत्पत्तिहेतवो द्युरसाः ।
भुवि निपतन्त्यविशेषात्क्काचिद्भूमिस्तु कमपि गृह्णाति ॥३८९॥

सर्वान् गुरुः पाठयते स्वशिष्यान् समानशब्देन तथापि नैते ।
विज्ञानमर्हन्ति समं गृहीतुं भिन्नार्कभिन्नक्षमताऽत्र हेतुः ॥३९०॥

आनन्दमेवास्ति समस्तविश्वं तथापि नानन्दमशेषलोकः ।
गृह्णाति वा पश्यति वा समानं सर्वे प्रकृत्यैव सुखं लभन्ते ॥३९१॥

अर्कप्रभेदादिव तूकृथभेदस्तदुकृथभेदादिव चार्कभेदः ।
यज्जातिसिद्धोऽस्त्ययमर्क उकृथस्तज्जातिमेवाशितिमश्नुते सः ॥३९२॥

अन्योन्योऽर्कस्तस्मादपेक्षतेयं यथा स्वभोग्यरसम् ।
तामेवाशितिमात्मनि कुरुते स स इत्ययं नियमः ॥३९३॥

उकृथं सूर्म्मिरिवेदं संकुचिद् तच्छिद्रं धारिणी तत्र ।
अर्का कृप्टा बहवः क्षणमाविष्टा रसा वहन्ति बहिः ॥३९४॥

सूर्य्यात् प्राणिशरीरे देवानां शश्वदागतिः प्रगतिः ।
स प्रहितां संयोगः सोमास्त्वाङ्गेऽप्ययं तथा वेधः ॥३९५॥

इदमन्तरिक्षमाद्या द्यौरथ सूर्य्यो द्वितीया द्यौः ।
सोमस्तथा तृतीया द्यौरासामेकवदिह योगोऽस्ति ॥३९६॥

इच्छाया विवर्तत्रयनिबन्धनत्वम् ॥

उकृथेक्षरे सत्यशितिर्न यौति चेदर्कस्तदा वृत्तिमुपैति तस्याम् ।
इच्छां विदुस्तामशितेस्तु संपदाऽप्युकृथेऽप्यसत्येष न तत्र कांक्षति ॥३९७॥

उकृथे मनस्यत्र परात्परेक्षरा उकृथा विचित्रा उदियन्ति योगतः ।
तदुकृथतस्तद्गतवृत्तयः समुत्तिष्ठन्त्य तदय तदिच्छति ॥३९८॥

आशङ्कानिराशः ॥

प्रश्नोऽयमत्रास्ति परात्परेऽस्मिन्न शक्यते वक्तुमयं विवर्तः ।
मनो हि सर्वत्र समं निविष्टं क्षरेषु भूतेषु तु सन्त्यनुक्थाः ॥३९९॥
मनोऽसुवाग् वायुवनलाम्बिलानां समा अनुक्था विषमाः सहोक्थाः ।
विवर्तवत्वे तदनुप्रवेशात् सर्वे सहोक्थाः स्युरिमे विशेषात् ॥४००॥
आकारवत्येव विवर्तसंस्था संभाव्यतेऽनाकृतिके तु नैवम् ।
प्राणे च वायौ च जले च नास्त्याकृतिस्ततो नास्ति विवर्तसिद्धिः ॥४०१॥
अत्रोच्यते सर्वमिदं सहोक्थं मन्ये तदुक्थं द्विविधं तु विद्यात् ।
ऋङ्नाम हन्ताम ऋगाख्यमुक्थं सर्वत्र साम्यादुपपादयामः ॥४०२॥
यदस्ति भूतं तदशेषमस्मिन् वेदे स्थितं दृश्यत ऋक् कलापयम् ।
ऋक् सा प्रतिष्ठा तदुरूपमिन्द्रस्तत्राशितिः सामतनोस्ति विष्णुः॥४०३॥
व्यक्तिस्तु याऽनायतनाऽशरीरा शरीरिणी सायतना च यास्ति ।
ऋगुक्थमर्को यजुरत्र सामाशितिः प्रतिव्यक्ति विभाति नित्यम् ॥४०४॥
हृदुक्थकं सायतने तु भावे विभाति नानायतने क्वचित्तत् ।
यत्र प्रधिस्तत्र हि नाभिरेषा व्याप्तिः प्रधिर्नास्त्यशरीरभावे ॥४०५॥
उक्थं तथाऽर्कोऽशितिरेतदेव त्रयं मनोयोगवशादुपैति ।
संस्था विशेषाकृतयस्तु सर्वाः सिध्यन्ति तस्मिन् पुरुषाभिसङ्गात् ॥४०६॥

विस्रस्त–संधानचक्रकम् ॥

उच्चात्प्रपाते परिचङ्क्रमेऽपि वा भ्रमोऽथ मूर्धाथ मृतिश्च जायते ।
उक्थे गतिस्तेन निजापि गम्यते न स्थेम्नि तद्विह्वलतोपपद्यते ॥४०७॥
यैषा तदुक्थे गतिरस्ति नित्या तामेव विस्रस्तिरिति ब्रुवन्ति ।
विस्रस्तसंधानमिहास्ति शश्वत् तच्चक्रकं सर्वपदार्थधर्म्मः ॥४०८॥
मनोऽव्ययं वाक्षरमक्षरं वा स्थिरं चरं वा यदि हास्ति किञ्चित् ।
सर्वं सदैवोत्क्रमतेऽतिचान्नं विस्रस्तसंधानकचक्रकं तत् ॥४०९॥
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४१०॥
(ईश. उ. ४.)

अहर्निशं गच्छति पूर्णवेगादुक्थं तथापि स्थिरमेतदस्ति ।
महिम्नि तस्य प्रचरन्ति देवास्तद्यानमाभाति न तूक्थयानम् ॥४११॥
चतुर्थलोकेऽस्ति भृगुश्चतुर्धा तत्राश्वयीन् मातरि यः पृथिव्याम् ।
उक्थाभिधायां स हि मातरिश्वा दधाति तस्मिन्नशितिः सहोक्थे ॥४१२॥
मनोऽव्ययं वा क्षरमक्षरं वा स्वां स्वां पृथक्त्वादशितिं प्रभुङ्क्ते ।
कालेन देशेन यथोपलाभं क्षरोक्थमश्नाति तु सप्तधाऽन्नम् ॥४१३॥
धान्यं जलं यत्नवशाद् विशेषात् तेजश्च वायुं च बलं च वाचम् ।
ज्ञानं च गृह्णाति समन्ततोऽयं तेषामलाभे म्रियते क्षरात्मा ॥४१४॥
एवं नु खल्वक्षरमव्ययं च स्वारम्भकान्यान्यबलस्वभावात् ।
नाधोदरात् तद्वय उत्क्रमेणाशनाययाऽन्नं निजमस्ति शश्वत् ॥४१५॥

विस्रस्तिमत्तोऽपि स्थिरत्वप्रतिपत्तिहेतुः ॥

स्थिरं चलच्चाखिलमेव विश्वं विस्रस्तिगत्यो गतिमद्विभाति ।
पुराणजीर्णस्थविरादिवुद्धिस्तद्रूपभेदश्च न चान्यथा स्यात् ॥४१६॥
शैलादिकं चापि तु गच्छ देव स्थिरं गतिश्चागतिरत्र साकम् ।
प्रदीपहेतोः सरितां प्रवाहे यथा स्थिरत्वं तदिहापि विद्यात् ॥४१७॥
द्वे वा गती यत्र विरुद्धदिक्त्वादन्योन्यसिद्धिप्रतिबन्धहेतू ।
सैव स्थितिर्यत् स्थिरमस्ति तद्वै सर्वा दिशो याति सहेति विद्यात् ॥४१८॥
स्थितिर्न सा यत्र न चान्तरे गतिर्गतिर्न सा यत्र न चान्तरे स्थितिः ।
कात्स्न्याद् गतौ तु स्थितिरन्तरे न चेद् गतिं सतीमेव तु तां स्थितिं विदुः ॥
"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४२०॥
"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ॥
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥४२१॥ (ईश. उ. ४-५.)
धाराप्रवाहादपि दिग् विरोधादैकान्तिकत्वात् त्रिविधा स्थितिः स्यात् ।
प्रतिक्षणेत्सतिमयस्वभावेऽप्यस्मिन् बले तैः स्थितिः बोधसिद्धिः ॥४२२॥
उक्थं चतुर्दिक्षु सहैव गच्छत्यतः स्थिरत्वं प्रतिभाति तस्मिन् ।
विस्रस्यते यावदिहोक्थनाधाद् वयस्तदा यात्यशितेस्तु सद्यः ॥४२३॥

स्थितिर्न मत्या उदरेऽस्ति तस्मात् प्रधौ च नाभौ च सहैतदुक्थम् ।
इत्थं स्थिरत्वे प्रतिपद्यमानेऽप्यस्त्येव विस्रस्तिरशेषधर्मः ॥४२४॥
विस्रस्तिगत्या भवति स्थिराणां स्थाने स हानिः सह पूर्तिहेतोः ।
यन्नाधनाभीमहिमप्रधीनां देशान्तरत्वं गतिरस्य सास्ति ॥४२५॥

॥ विवर्तावयवानामन्योन्यभावावसायित्वात्पौर्वापर्य्यभावः ॥

विस्रस्यतेऽर्कस्तदमुष्य रिक्ते स्थानेऽशितिः संचरतीति वास्ति ।
अर्को ह्यशित्वाऽशितिमेधमानो विस्रस्यते वेति न संशयीत ॥४२६॥
नोच्छिष्टमाद्ये तु भवेन्न सर्गोऽशितेर्विरिक्तायतनोन्मिनत्वात् ।
नान्त्योऽपि युक्तोऽशितिरत्र नार्के पूर्णेऽशनाया रिहिते विशेत्सा ॥४२७॥
अर्को स्थितेरुक्थमिदं तु रिक्तं परान्तमागत्य च रिच्यतेऽर्कः ।
रिक्ता भवत्युक्थगताऽशितिः सा तदुक्थमापूरयतेऽथ चोक्थम् ॥४२८॥
तमर्कमापूरयते स चार्कोऽशितिस्वमायाति परान्तदेशे ।
प्रवाहि चक्रं तदिदं चिराय प्रवर्तते नात्र परं न पूर्वकम् ॥४२९॥
निसर्ग एषोऽस्ति परान्तस्वाशितेर्विस्रस्ति मात्रामनु साऽनुवर्तते ।
विस्रंसनं येन बलेन तावता बलेन तत्राशितिरेति चक्रवत् ॥४३०॥
अथोक्थमाप्नोत्यशितिं तु चक्रकाशितेर्विमिन्नामपि भिन्नमार्गतः ।
तत्रोक्थविस्रंसनतोऽशितेर्गतौ पूर्वापरत्वे च मितौ च भिन्नता ॥४३१॥
गच्छन् जनः श्राम्यति तत्र पादतः प्राणोऽयमायादधिकं विनश्यति ।
त्यक्त्वा गतिं प्राणमुपैति सोऽशितेस्तेनायमत्रानियतेति गम्यते ॥४३२॥
रवेः करैः सागरवारि कृष्यते काञ्चित् समासानुपपद्यते कृशः ।
पुनश्च वृष्टैरुदकैः सरित्क्रमात् संपद्यते पूर्ववदेष सागरः ॥४३३॥
पात्रे यदा वारि निवेश्यते तदा विस्रस्यते वायुरितस्तु पात्रतः ।
गङ्गाप्रवाहे सरणं प्रपूरणं सहेति पूर्वा परता न लक्ष्यते ॥४३४॥

विस्रंसनपूरणयोर्मात्रातारतम्यम् ॥

उच्छिष्टतः सृष्टिरिहास्ति तस्मादुक्थेऽशितौ नास्ति समैव मात्रा ।
बलाधिकेऽर्केऽल्पतराऽशितिर्वाऽधिकाऽशितिर्वाल्पतरे क्वचार्के ॥४३५॥

यत्राधिका साऽशितिरेति तत्र त्रेधा गतिः क्वाप्यशितिः स्वतन्त्रा ।
उच्छिष्टरूपा विकृतिं प्रयायात् सा मानसी सृष्टिरिति प्रसिद्धा ॥४३६॥
अथापि वाऽन्यत्र तदन्ययोगश्चितिस्ततो मैथुनसृष्टिरस्ति ।
अथापि वा साऽशितिरर्कमाप्य प्रवर्धयन् मेदयतीममर्कम् ॥४३७॥
सोमोहुतिः साऽथ च सोऽग्निचित्या स्वतन्त्रसृष्टिश्च स एष यज्ञः ।
त्रेधा ततः सर्वमिदं प्रजातं ततः स्थितं तत्प्रभवोऽशनायाः ॥४३८॥

विवर्तत्रये सत्यशब्दः ॥

इदं मिथोऽस्त्यव्यभिचारमाप्तं त्रयं न चान्येन विनाऽन्यदस्ति ।
योन्योन्यसिद्धौ विनियोग एषां स आत्म यज्ञोऽस्ति च वस्तु सत्यम् ४३९
सदिति प्राणो योऽर्कोऽस्तीत्यन्नं यमिति चादित्यः ।
उक्थार्काशितिक्लृप्तं सत्यमुवाचैतरेय आरण्ये ॥४४०॥
यः सोममन्नं परितः समाहृत्यादत्त आदित्य इति वस्तुतः सः ।
आदत्त इत्थं हृदयं हि तस्मात् स उक्थ आदित्य इति ब्रवीमि ॥४४१॥
सूर्य्ये यदादित्यपदं तदुक्थाभिप्रायमुक्थोऽस्ति हि सूर्य्यबिम्बः ।
तन्मण्डलात् सर्वदिशं प्रवृत्ता ये रश्मयः सोऽर्क इति प्रसिद्धिः ॥४४२॥
उद्ग्रन्थ्यमानानि बलानि बन्धाद् विमुच्यमानानि चरन्ति सोऽर्कः ।
अश्नाति रिक्तोदर एत्य बाह्याद्बलं तदश्नाति रसोऽशितिः सा ॥४४३॥
स एवमन्योऽपि समस्त उक्थोऽस्त्यादित्य एतं यमिति ब्रुवन्ति ।
अर्कः सदन्नाशितमस्ति संज्ञास्तत्तत् त्रिकं सत्यमिति प्रतीयात् ॥४४४॥
सत्यमिदं प्रत्यर्थं नियतिः सत्यं न सत्यतश्च्यवते ।
ब्रह्मा ब्रह्मणि सुस्थे त्रितयमिदं सत्यमुपनमति ॥४४५॥
ब्रह्मेन्द्रविष्णवोऽग्निः सोमः पञ्चाक्षरा इमे सत्यम् ।
तत्रोक्थत्रयमात्मा ब्रह्मा तूक्थत्रयेऽप्यात्मा ॥४४६॥

समाम्नायभेदाद् विवर्तशब्दभेदः ॥

यतोऽशनायाऽस्त्यखिलेषु तस्मात्तदुक्थमर्कोऽशितिरप्यमीषु ।
साधारणो धर्म्म इदं हि मूलं त्रिसत्यमाभाति न भूम्नसीम्नि ॥४४७॥

मूलत्रिसत्येऽस्ति विवर्तशब्दः सब्रह्मणो मूलविवर्त एषः ।
प्रवर्तते मायिनि न त्वमाये वैधर्म्यमेतन्मनसोः पृथक् स्यात् ॥४४८॥
चतुःसमाम्नायगतं पृथक् पदैर्मूलत्रिसत्यं हि तदुच्यते पृथक् ।
तदुक्थमर्कोऽशितिरुच्यते यदा मनः साम्नायत उत्तरेऽपि तत् ॥४४९॥
तद्वै मनः प्राण इयं च वागिति प्रत्यायते ह्यव्ययपर्यये त्रयम् ।
इन्द्राग्निसोमा इति चाक्षराः क्षरे त्वावापमन्नादमुतान्नमब्रुवन् ॥४५०॥
पर्यायभेदप्रतिपत्तये त्विमे भेदेन शब्दाः प्रभवन्ति वस्तुतः ।
सर्वेऽपि शब्दाः प्रतिपर्य्ययं समानैषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते क्वचित् ४५१

१८—अथ चेतना चातुर्विध्ये वितानचेतना

(वितानचेतनाधिकरणम्)

विराड् वितानस्य वेदमययज्ञत्वम् ॥

इत्थं प्रदर्शितोदयं मन इत्यभिधः परात्परो यस्य ।
हृदये-निकाय-विभूतिप्रभेदतो विक्रमा उक्ताः ॥४५२॥
अथ चिद् विराट् प्रजापतिरस्य वितानोस्ति चेतनानाम् ।
उक्थस्य विराजोर्को यज्ञं तन्वन् वितायते वेदैः ॥४५३॥
अस्य विराजः परितो वर्तुलवृत्तं वितायते वेदः ।
अस्ति विराडिह नाभौ स स्थिरबिन्दुः प्रकल्प्यते तत्र ॥४५४॥
य स्थिरबिन्दुः स हि चिन्मात्र गतिः किन्तु सर्वतो गतयः ।
तस्मादुत्तिष्ठन्ते सोऽन्तरजातो विजायते बहुधा ॥४५५॥

बिन्दुनादबीजानि वितानावयवाः ॥

आथर्वणिका आहुर्बिन्दुनादश्च बीजमित्येतत् ।
सृष्टिस्वरूपहेतुः प्रत्यर्थं शब्दवत् समुन्नेयम् ॥४५६॥
शब्दः कुतोऽपि बिन्दोरुत्थाय प्रतिदिशं चरन्नादः ।
वर्तुलवृत्तं नादो यस्तु निवापोऽस्ति तत्र तद् बीजम् ॥४५७॥

नादोत्थानाद् बिन्दुं तमुकूथमाहुः स नाद एषोऽर्कः ।
यः पुनरत्र निवापस्तद्बीजं साऽशितिः कथिता ॥४५८॥
एवं निखिलेष्वर्थेष्वव्यतिरेकेण भाति तत् त्रितयम् ।
[1]नाभिर्जालं[2] [3]प्रधिरिति जालं परिणाहमाप्रधि प्राहुः ॥४५९॥
[1]विच्छिन्नानुवृत्त[2]निरन्त[3]रभेदाद् वितानत्रैविध्यम् ।
आथर्वणिका ऋगिति प्राहुर्मूर्तिं तदुकूथसापेक्षम् ॥४६०॥
स्थिरबिन्दोर्मितमुकूथं यद्रूपं तामृचं विद्यात् ।
ऋच एव तु तद्रूपं भूयः प्रस्तूयते नु यत् परितः ।
तद्विदुरर्चनमर्चश्चरति यतस्तेन सोऽर्क उपदिष्टः ॥४६१॥
सोऽर्कस्त्रिविधो विद्युति दारुज्वलने घटादिरूपे च ।
विच्छिन्नोऽप्यनुवृत्तो निरन्तरश्चेति भेदेन ॥४६२॥
शब्दः कुतोऽपि बिन्दोराघाताद् यादृशः समुत्पन्नः ।
अर्कोऽपि तस्य तादृक् प्रतिदिशमुपतिष्ठते श्रुतिषु ॥४६३॥
यावदिहोकूथादुत्थितमेतत्सर्वं परान्तमायाति ।
परिशिष्यत इह नोकूथं नादोत्थानं ततः पुनर्नास्ति ॥४६४॥
आगन्तुकः कम्पन इन्द्र उकूथो द्वेधा नयो ब्रह्मणि संहितः स्यात् ।
ततो हि सोत्तिष्ठति शब्दधाराविच्छिन्नरूपाऽभिहतो विभागे ॥४६५॥
स एव मात्राधिक एत्य किञ्चिद् ब्रह्माणमन्वेत्यथ नैति विष्णौ ।
अनन्न उकूथ क्षिणुते ततः सा धाराऽनुवृत्तार्थचिराद् व्यपैति ॥४६६॥
कांस्यादिपात्रे भवति प्रकम्पो यावन्नु तावत् तत उद्भवन्ति ।
प्रकम्पजन्मा ननु शब्दधाराऽनुवर्तते सैकबलानुवृत्ति ॥४६७॥
वाद्यन्तु यो वादयते स वाद्ये पुनः पुनर्घातवशात् तमिन्द्रम् ।
बलाख्यमायोज्य तदुत्थितां वाग्वीचिं शृणोति ह्यनुवर्तमानाम् ॥४६८॥
प्रवाहवद्वृष्टिवदस्ति दीपे ज्वालप्रभाभिन्नबलानुवृत्ता ।
परान्तमेत्येकबलात् प्रवृत्ता सा सा गतिर्भिन्नबलानुवृत्तौ ॥४६९॥
काष्ठस्यदाहाज्ज्वलनेऽनुवृत्ते विस्रस्य विच्छिद्यत उकूथबिन्दुः ।
अन्यान्यतस्तूत्थित एष उकूथा दर्कश्चतद्भाति निरंतरं सः ॥४७०॥

नैसर्गिको यत्र स इन्द्र उक्थो ब्रह्मण्यपीतोऽप्ययते च विष्णौ ।
निरंतरं स्रंसत एष कम्पात् तथाप्यशित्यास्थिरवत्सः उक्थः ॥४७१॥
साधिककोटीयोजनदूरे कुत्रापि बिन्दुलक्षिते व्योम्नि ।
यद्रविमण्डलमस्मादुत्थायार्को विभाति चक्षुषि नः ॥४७२॥
सूर्य्यो ज्योतिमान् यः किरणसहस्रेण सर्वतो निचितः ।
आकल्पादिह किरणा नैरन्तर्येण चोत्थिताः स्वस्थाः ॥४७३॥
अन्याकृष्टज्योतिर्द्रव्यं चन्द्रादि यच्च तोयादौ ।
प्रतिबिम्बादि विभाति क्षरणं भरणं निरन्तरं तत्र ॥४७४॥
रूपज्योतिर्द्रव्यं यत्र यथा भाति तत्र सर्वत्र ।
सूर्य्यस्तदेव निन्तरमेतद्रूपं परान्तमायाति ॥४७५॥

"अहमिद्धि पितुः परिमेधा मृतस्य जगृह ।
अहं सूर्य्य इवाजनि"

व्योम्नि तु यावति सोऽर्कः प्रचरति तावान् समूर्तिरप एव ।
मूर्तानां सर्वासां महती मूर्तिस्तु नाभिगोक्थं तत् ॥४७६॥
अपि वा सर्वास्ता अपि मूर्तय उक्थानि नभ्यतादात्म्यात् ।
एकैकतश्च तासां प्रतिदिशमुत्तिष्ठतेऽन्योऽर्कः ॥४७७॥
तस्मादुक्थाभिन्नः सोऽर्को न चितोऽस्ति चेतना भिन्ना ।
स्थिर इह यः समहोक्थश्चरदुक्थेष्वर्कशब्द आख्यातः ॥४७८॥
अर्कप्रचरणकर्म्मणि विस्रंसनतो विहीयते शश्वत् ।
उक्थं तत्पुनरुपचितमस्ति यतः शश्वदशितिः सा ॥४७९॥

विरिक्तसंभृतभेदादुक्थद्वैविध्यम् ॥

उक्थो ब्रह्म विभुरपि सुप्तप्रतिबुद्धभेदतो द्विविधः ।
आघातप्रतिबुद्धान्नादोत्थानं न सुप्ततो बिन्दोः ॥४८०॥
प्रतिबुद्धोऽपि द्विविधो भवति विरिक्तश्च संभृतश्चेति ।
नादस्येव विरिक्तादुत्थानं सकृदिवास्ति विच्छिन्नम् ॥४८१॥
यत्र न बुद्धो ब्रह्म बुद्धोऽपीन्द्रेण विष्णुना विकलः ।
स विरक्तोऽस्ति न तस्मान्नादोत्थानं निरन्तरं भवति ॥४८२॥

यः संभृतो विराजा तत्र च विष्णुर्विराण्मयो यज्ञः ।
नित्यं चेन्द्रसहायो ब्रह्मणि तत्र प्रतिष्ठितो भवति ॥४८३॥

प्रतिष्ठाविद्युद् यज्ञानामुक्थनिबन्धनत्वम्

ब्रह्मा सर्वस्यास्ति प्रथमज एषोऽखिलप्रतिष्ठा च ।
इन्द्रो विद्युदुपाख्यो यज्ञोपाख्यश्च विष्णुरिह विधृतौ ॥४८४॥
इन्द्रो यत्र य उक्तो विद्युत् प्राणः स सर्व एवास्ति ।
ब्रह्मणि विद्युन्नद्धा सर्वा श्रेष्ठास्तदुत्थिता ज्ञेयाः ॥४८५॥
विष्णुर्यज्ञं जनयति यज्ञादर्कोऽशितिर्निवापोस्ति ।
अन्नमयस्तु विराडिह विष्णुर्नद्धोस्ति यज्ञरूपेण ॥४८६॥

निवापद्वैविध्यम् ॥

यज्ञाहुतिश्च यज्ञोच्छिष्टो द्विविधा निवापोस्ति ।
अर्कादधिकाशित्योच्छिष्टं स्यादन्यथाहुतिः शुद्धा ॥४८७॥
यज्ञाहुतिः प्रजापतिजीवनतनुरक्षणं कुरुते ।
विस्रंसनतः क्षीणं कायं संधाय पूर्ववद्धत्ते ॥४८८॥
यज्ञोच्छिष्टात् ब्रह्मा मानससृष्टिं च मैथुनीसृष्टिम् ।
जनयति तस्मान्नादे स निवापो बीजमित्युक्तः ॥४८९॥
इत्थं योस्ति विरिक्तो बिन्दुर्यदि वास्ति संभृतो बिन्दुः ।
उक्थः सोऽस्त्युभयोऽपि ब्रह्मा चेन्द्रश्च विष्णुश्च ॥४९०॥
अथ च तदुत्थो नादो विच्छिन्नो वा निरन्तरो वापि ।
उभयोऽप्यर्कः सोऽग्निस्तत्र निवापश्च बीजमशितिः स्यात् ॥४९१॥

वैतानिकमूलविवर्तोदाहरणम्

नाभिगतेरूर्ध्वगतिर्भुवोऽङ्गगतिस्तु नाभ्यन्यसमाङ्गगत्या ।
इत्थं गती द्वे सह वा पृथग् वा प्रमाणमुक्थार्कविकल्पनायाम् ॥४९२॥
यद् वस्तु पश्यामि तदक्षिदेशे प्राप्तं नु पश्यामि न वस्तुदेशे ।
किन्त्वर्थदेशेऽनुभवामि नाक्ष्णि प्रतीतिरित्थं नु दृगर्थयोगात् ॥४९३॥

अर्थः स्वमंशुं प्रहिणोति चक्षुन्त्वर्थे स्वमंशुं प्रहिणोति चक्षुः ।
उक्थे तु ते ये प्रभृति तयोस्तस्ते चान्तरांशुं प्रसृतौ तथाऽर्कः ॥
उत्थाय तूक्थात्तु निजादिमेऽशवः परावतं यान्त्यनिरोधिता यदि ।
रुद्धाः परावर्त्य तु भिन्नदिक् क्रमात्परावतं यान्ति निजां यथा तथा ॥
रुद्धा इमे दर्पणतो भवन्ति चेत्तदा परावृत्य चरन्ति यां दिशम् ।
तन्मार्गदृक् पश्यति रोधनस्थले तद्रूस्तु तस्मादिदमुक्थमिष्यते ॥
अर्थांशुर्रकः स दृगंशुमश्नन् प्रज्ञायुजं चावपति स्व उक्थे ।
रोधस्थले वाऽर्थनिजस्थले वा प्रज्ञा ततोऽर्थस्य भवेदिहोक्थे ॥
दृगंशुरर्कश्च तथाऽर्थरूपं प्रज्ञामयोऽश्नन् वयति स्व उक्थे ।
प्रज्ञोक्थदेशे हृदयेऽर्थरूपं संस्कारितं भाति चिराय तस्मात् ॥४९८॥
उक्थार्कयोरप्यशितेस्तदित्थं बोधाय दृष्टान्तमिदं प्रदिष्टम् ।
यत्यर्थमुक्थे तु वसंस्तदुक्थादुत्थाय चार्कोऽशितिमश्नुते स्वाम् ॥

१६. अथ वेदसंस्थाविचारः ॥

वेदाधिकरणम्

विताने द्विविधवेदप्रतिष्ठा ॥

यो लक्ष्यते ब्रह्म विवर्तविद्यया स माययाऽमीयत तं पृथक्तया ।
विदन्ति विन्दन्ति च विद्यते तत् तस्मादमुं वेद इति प्रचक्ष्महे ॥५००॥
एकैकवेदः प्रविभज्यते द्विधा प्रागग्निवेदोऽथ च सौमिकः परः ।
अथर्ववेदः खलु सौमिको भवत्याग्नेयवेदस्तु तदन्तराहितः ॥५०१॥
ऋक्सामयोरन्तरितं यजुःस्थितं ततोऽग्निवेदः कथितस्त्रयीपदात् ।
बीजं यजुर्विश्वमितोऽभवद् स्तदुक्थार्कभिदा द्विधोदितम् ॥५०२॥
अथर्वणेऽन्तर्यदि यन्त्रमीक्ष्यते तदेकमेकं पृथगस्ति वस्त्विदम् ।
एतावदेव प्रमितं नु मायया मितिं विना क्वापि न वस्तु लक्ष्यते॥५०३॥
एतयोरपि च वेदयोः प्रभुः कश्चिदस्ति हृदये प्रजापतिः ।
विष्णुनाभिकमले प्रतिष्ठितो ब्रह्म तेन विधृतं चतुर्विधम् ॥५०४॥
अन्नमयः खलु पिण्डो नाभौ मूर्तिर्विराट् स विष्णुः सः ।
अन्नस्तत्र स इन्द्रो व्याप्तो नाभौ प्रजापतिस्तस्य ॥५०५॥

ब्रह्मविद्यावेदशब्दानां प्रवृत्तिनिमितानि

ब्रह्मेति विद्येति च वेद इत्यमी शब्दाः समानार्थतयाभिनिष्ठिताः ।
अनन्तवेदा जगदेकमिष्यते न वेदतोऽन्यत्किमपीह दृश्यते ॥५०६॥
ब्रह्मा विकल्पं विषयातिसृष्टं ज्ञानं विदुस्तच्च बलान्वितं सत् ।
विकल्पवत्स्याद् विषयावगाहि त्रेधा तु तद् ब्रह्म विवर्ततेऽत्र ॥५०७॥
ब्रह्मेति विद्येति[२] च वेद[३] एते भिन्नप्रदेशा अपि तुल्यलक्ष्या ।
ब्रह्मैव विद्यैव च वेद एवाखिलं जगद्भाति हि तत्ततोऽस्ति ॥५०८॥
यद् दृश्यते दृष्टिरियं तु दृश्यप्रतिष्ठया ब्रह्म[१] निरुप्यते तत् ।
विद्या[२] हि सा दृष्टिज संस्कृतिर्या यद् वाङ्मयं दृश्यमिदं स वेदः[३] ॥५०९॥
वेदस्तु वाक्प्राणमयी तु विद्यामनोमयं ब्रह्म तदेकमादौ ।
उन्मुग्धमव्याकृतरूपमासीत्ततस्त्रिधा तेभ्य इदं समस्तम् ॥५१०॥
उदेति यज्ज्ञानमिहेन्द्रियेभ्यस्तद्ब्रह्म तद्ब्रह्मणि जायतेऽर्थः ।
विद्या[२] तु संस्कार उदेति तस्मात् ज्ञानं यदेतां च वदन्ति विद्याम्[३] ॥
य आस[३] शब्दः स हि वेद उक्तो ज्ञानं यदस्मादुदितं स वेदः[३] ।
ज्ञानं तदेकं जनकप्रभेदादित्थं त्रिधोक्तं विदुरित्थमन्ये ॥५१२॥
एवं प्रभेदेपि यदस्ति किञ्चिद् तद् वेद्यतोऽस्तीत्यखिलः स वेदः ।
विद्या च तद् ब्रह्म च यन्न वेद व्यक्तं न तत् किञ्चिदिहास्ति वस्तु ॥

वेदोपलक्षितव्योमभेदः ॥

यावदेव खलु मायया मितं तत् त्रिधा प्रतिविभक्तमिष्यते ।
नाभि[१] खं परिसरं[२]ः परान्त[३] खं नाभि खे परिसरे च तद्यजुः ॥५१४॥
अणोरणीयान् हृदियोऽर्क उक्थः परिप्लवे खे महतो महान् सः ।
प्रत्यर्थमात्मा निहितो गुहायामेको द्विधाभूत इति प्रविद्यात् ॥५१५॥
नाभिमेव हृदयं च लक्षते स्याद्धि तत् परिसरं परिप्लवम् ।
तं विहारमथ यत्परान्तखं तां परावतमनुस्मरन्ति च ॥५१६॥
ऋक् च साम च सहैव तिष्ठतो यत्र तद् यजुरुपैति सर्वतः ।
ते ध्रुवे यजुरिदं तु युज्यते यज्ञकर्म्मणि च सृष्टिकर्म्मणि ॥५१७॥

चतुर्वेदस्वरूपनिर्देशः ॥

ऋक् च सामयजुरेते वेदास्ते प्राणवाङ्मनोरूपाः ।
अव्ययपुरुषाभिहिता मनसि समृद्धे तु सन्त्यविज्ञाताः ॥५१८॥
नाभौ मूर्तिर्या सा ह्रस्वपरा ह्यप्रधेः प्रतिदिशं क्रमते ।
मूर्तिवितानाकारितपृष्टं दीर्घोत्तरं च सङ्क्रमते ॥५१९॥
निष्कम्भो नभ्याया मूर्तेर्ह्रस्वोत्तरः प्रधिं यावत् ।
प्रष्टांशसाम्यहेतोराप्रधि दीर्घोत्तरोऽस्ति विष्कम्भः ॥५२०॥
ते चैते ऋक्सामे वस्तुस्थितिसंनिवेशपरिक्लृप्ते ।
स्थाण्वोस्तयोश्चरिष्णु तु यजुरमृतं मर्त्यमस्ति तद्वीजम् ॥५२१॥
यजुषा सोम इहाग्नौ प्रतिपलमाहूयते ततः सोमः ।
अग्निर्भूत्वा स्रस्तस्याग्नेः स्थानेऽनुयाति नियतिरियम् ॥५२२॥
एतत्सोमाधानं त्वायोमयमस्ति वाङ्मयात्परितः ।
सोथर्ववेद इत्थं व्योमत्रयमस्ति मनसि वायुमयम् ॥५२३॥
मूर्तिः सर्वा स्याद् ऋचां रूपमेव सर्वं तेजः सामरूपहराश्वत् ।
सर्वत्रैवं याजुषीयं गतिः स्याद् ब्रह्मव्याप्तिरङ्गिरेभ्यो भृगुभ्यः ॥

(अ० गो० ७ पू० २१२८)

यज्ञो येन च्छाद्यते छादनाद्वा यस्माद् यज्ञो गुप्यते सोऽस्ति वेदः ।
ऋक्सामाभ्यां प्राच्युदीच्योः स गुप्तोऽवाक् प्रत्यक् च ब्रह्मणा यजुर्भिः ॥

(अथर्व गो० पू० २१२९)

२०. अथ व्योमसंस्थाविचारः ॥

(व्योमाधिकरणम्)

मनोवत्पुरुषे व्योमत्रयप्रतिपत्तिः ॥

मनः प्रतिष्ठाः पुरुषास्त्रिभवतयो नाभौ धरित्रं परितः परिश्रयः ।
पारावतं खं परिश्रयाद्बहिः सर्वं त्रिवृद् वर्तुलमण्डलं ततः ॥५२६॥
संस्पृश्यते यावदिदं धरित्रं तत् स्पर्शनेयं विनिगूढमन्तः ।
तद् दृश्यते यावति दूरदेशे तद् दृष्टनेयं तु परिश्रितं खम् ॥५२७॥

ततो बहिर्यावति खेऽस्य गन्धोऽवाघ्रायतेऽत्यल्पसमीरनीतः ।
आघ्राणनेयं प्रवदामि पारावतं तदित्थं निखिलं त्रिभक्तम् ॥५२८॥
व्योमत्रये द्वे प्रथमे तदर्थस्यात् मौपसर्गे तु विदुस्तृतीयम् ।
व्योमद्वयी लक्षितमूर्त्तिरन्नाद् व्योम्नस्तृतीयाल्लभतेऽन्नमत्तुम् ॥५२९॥

व्योमद्वयस्य हृद्व्योमकूटत्वम् ॥

व्योमत्रयं ह्यावपनं तदुक्थं हृद्व्योमतो व्योमयुगप्रक्लृप्ति ।
चतुर्दिशं नाभित एव मूर्ति व्योमास्थितं मूर्तिसदोऽप्यमूर्तिम् ५३०†
नाभिस्तदुक्थं प्रतिबिन्दुनाभिः प्रवर्तते ह्यावपनेऽम्बरेऽस्मिन् ।
प्रत्येकबिन्दुस्थितमूर्तिनाभेश्चतुर्दिशं सन्ति रसः प्रसृताः ॥५३१॥
मूर्तिर्द्विधा व्यक्ततरा क्वचिच्चाव्यक्ता ययोर्व्यक्ततरा सुदृष्टौ ।
नाभेश्चतुर्दिक्षु विकासते भाश्च्छायाऽन्धकारातपयोस्ततोऽन्तः ॥५३२॥
पृथक्निजाकाशमयाणुसङ्घे यत्रान्यदाकाशमुपैति नाभिः ।
तत्रायमर्थः स शरीर इष्टस्तयोरभावे त्वशरीरवस्तु ॥५३३॥
वायुर्जलं मेघ विधास्तथार्थाः सर्वे शरीरा निजनाभिशून्याः ।
तत्रोक्थता प्रत्यणुनाभिखानां पृथग्विधानां च पृथग् विधैव ॥५३४॥

व्योमत्रये पाञ्चदेवत्यप्रतिपत्तिः ॥

उक्थान्येतान्यत्र तेऽर्का विभक्ता इन्द्रश्चाग्निः सोम इत्थं क्रमात्स्युः ।
सोमो यद्यप्यन्नमग्नेस्तथापि व्योम्नोऽन्त्यास्त्युक्थभूतस्य सोऽर्कः॥५३५॥
इन्द्रो नाभावेव चाग्निर्विहारे सोमस्तद्वत् खेपरान्ते विभाति ।
त्रय्या ह्यग्निः प्रज्वलित्यत्र सोमाहुत्या यज्ञस्येति तेनैव चेन्द्रः ॥५३६॥

---

† मूर्तिव्योम तु हृद्व्योम्नः समन्तात् प्रथितमायतनव्योम । तच्च नभ्याया महोक्थमूर्तेस्तदुत्थितानामुक्थानां मूर्तीनां च सदो व्याप्तस्थानम् । इत्थं मूर्तिमत्त्वेपि स्वयममूर्तम् । व्योम्नः स्वयममूर्तत्वात् । परिसरव्योमपारावर्त-व्योम्नोरैक्याभिप्रायेणेदमायतनव्योम व्याख्यातम् । प्रकारान्तरेणापीदं व्याख्यायते । मूर्तिव्योमवैराजं नाम स्पर्शनेयम् । मूर्तिसदस्तु परिसरव्योम । तत्र दृष्टिनेयानां मूर्तीनामवस्थानात् । अथामूर्तं तृतीयं व्योम पारावतम् । एषु मूर्तिव्योमैव हृद्व्योम । ततोऽन्ये व्योमनी क्लृप्ते ॥

यत्रायमिन्द्रः स युगत्र विष्णुः प्रजापतिश्चोक्थतयोपपन्नः ।
प्रजापतिर्हीन्द्रवृतः स हृत्स्थोऽथेन्द्रं विराड् विष्णुरयं वृणोति ॥५३७॥
प्रजापतिर्विष्णुरयं स इन्द्रस्त्रेधा सहस्रं पृथगीरते ते ।
तद्............साहस्रकं पुष्यति सोमतः प्राक् ॥५३८॥
तदव्यये वाङ्मयमस्ति साहस्रकं त एते प्रथिता हि वेदाः ।
त्रयस्तदूर्ध्वं पुनराप एताः संतन्वते तास्तु चतुर्थवेदः ॥५३९॥

२० मूलविवर्ते औक्थिकविवर्तविचारः ॥

(औक्थिकाधिकरणम्)

मूलविवर्तत्रैविध्यम् ॥

वैतानिको मूलविवर्त एष त्रिवृत् कृतस्तत् त्रितयं त्रिधास्ति ।
स औक्थिको याजुष एवमन्यो वैराज एतेऽप्यपरा विवर्ताः ॥५४०॥
वीर्य्यप्रभेदस्तुदमौक्थिकं स्याद् बलप्रबोधादिह याजुषं तत् ।
वैराजमन्नोपचयस्वरूपं त्रिभिस्त्रिसत्यैः क्रियते त्रिसत्यम् ॥५४१॥
प्रत्यर्थशक्त्युद्भव औक्थिकात् स्याद् व्यवत्यात्मनो याजुषतोस्ति सृष्टिः ।
वैराजतो व्यक्तशरीरसिद्धिर्वैतनिकात् सिद्धिरभून्महिम्नः ॥५४२॥
परात्परे नाम मनस्यमुष्मिन्निमान् पृथङ्मूलविवर्तभेदान् ।
प्रदर्शयामस्त्रिविधान् क्रमेण व्याप्नोति यैर्विश्वमिदं मनस्तत् ॥५४३॥

औक्थिके विवर्ते त्रिदैवत्यम् ॥

आकाश एष त्रिविधोऽस्ति तस्माद् वायुश्च तत्र त्रिविधः स युक्त्वात् ।
प्रजापतिः कश्चन कश्चिदिन्द्रो विष्णुर्विराड् वेत्ति च कश्चिदन्यः ।५४४।
यो ब्रह्मवीर्य्योऽस्ति तमुक्थमर्कं प्रजापतिं नाम वदन्ति विज्ञाः ।
इन्द्रं[२] विदुः क्षत्रसवीर्य्यमेवं विड्वीर्य्यमार्य्या हि विराजमाहुः[३] ।५४५।
वीर्य्यात् प्रभेदेऽप्ययमर्थ एकः प्रजापतिर्य्यश्च विराड् य इन्द्रः ।
सांकर्य्यतस्तद् व्यपदेश इष्टो वीर्य्योपदेशाय तु शब्दभेदः ॥५४६॥
आदित्य[१] इन्द्रोऽथ य आन्तरीक्ष्यो[२] यश्चेन्द्र उक्तो जनता[३] नियोक्ता ।
सर्वः स इन्द्रो व्यतिरिच्यतेऽस्मात्प्रजापतीन्प्रादपि चोक्थतोऽर्कात् ॥

चिच्चेतना चेत्ययमर्थ एकस्तस्मात् प्रजेशः स विराड् स इन्द्रः[3] ।
यज्जातिराकाशविधोऽस्ति नूनं तज्जातिको वायुविधोपि तत्र ॥५४८॥

प्रजापतिश्चेत्प्रमुखस्तदानीं इन्द्रोऽप्रधानोऽत्र विराट् च गौणः ।
इन्द्रो यदि स्यात् प्रमुखो विराड् वा तदेतरौ तत्र गुणौ भवेताम् ॥

उक्थेष्वमीपूस्थतया प्रजापतिस्तत्रेन्द्र एषोऽर्कतया प्रवर्तते ।
विराट् तु विष्णुः श्रियमन्नुमादधत् पुष्णाति सोऽर्कं च ततः प्रजापतिम् ॥

प्रजापतिर्वेदमयोऽस्य जन्मदो भोक्ता स इन्द्रोस्त्विह यज्ञकर्म्मणः ।
यज्ञोदयैतत् स्थिति हेतवे स्वयं विष्णुर्विराड् यज्ञमयो विराजते ॥५५१॥

त्रिदैवत्यलक्षणप्रतिपत्तिः ॥

ब्रह्मा यावदमुष्मिन् तावद् विज्ञानमस्य हृदि भाति ।
योगो वागपि सिध्यति वक्तुं जानाति सुप्रसन्नमनाः ॥५५२॥

इन्द्रो यावद् तावद् प्रतितपति तस्य प्रभाव उपनमति ।
बाल्यादेव स आज्ञां तनुते क्षमते च धर्षणं बलवत् ॥५५३॥

परमाक्रमते सर्वेऽप्यप्रतिधृष्टयं तदक्षितो विभवत् ।
तेजः प्राप्य गभीरं बिभ्यति वश्यपाश्च जायन्ते ॥५५४॥

विष्णुर्यावत् तावद् संपत्तिः श्रीर्यशः स्वयं भवति ।
नैरोग्यं च शरीरे पत्नी भृत्याः प्रजाः पशवः ॥५५५॥

यद्दिशि यद्देशे वा प्राप्स्यति तत्रैव गन्तुमिच्छास्य ।
विष्णुः पश्यति भाग्यं तामशितिं प्रत्ययं नमति ॥५५६॥

सर्वस्यात्मनि सर्वेऽप्येते तिष्ठन्ति तारतम्येन ।
मन ईश्वरमिह जीवे यावन्मात्रं स तावदति शेते ॥५५७।

ब्रह्मा यस्मिन्नधिकः स भवत्यार्य्य एवमुपदेष्टा ।
तस्य भवन्ति तु शिष्या येषु ब्रह्माल्पता भवति ॥५५८॥

इन्द्रो यस्मिन्नधिकः स भवति शास्ता नियोजकः स्वामी ।
अल्पेन्द्रास्तु नियुक्ता भृत्या विश आश्रयापेक्षा ॥५५९॥

विष्णुर्यत्र त्वधिकः स श्रेष्ठः सोऽन्नादो दाता ।
परदत्तान्नभुगस्ति तु दानदरिद्रो यदाल्पविष्णुः स्यात् ॥५६०॥

कर्म्मवशादिह जीवे हृदि बलमुपयाति तादृशं येन ।
ब्रह्मादयस्त्रयस्ते वर्द्धन्ते वा ह्रसन्ति वा नियमात् ॥५६१॥

२१. मूलविवर्ते याजुषविवर्तविचारः ॥

(याजुषाधिकरणम्)

आकाशान्नादयोर्यजुष्ट्वम् ॥

आवाप इन्द्रो मन उक्थमेतान्याकाशरूपाण्यथ तत्र वायुम् ।
अन्नादमग्निं त्वसुमर्कमाहुर्यञ्जुर्यजुर्वास्ति सहोभयं तत् ॥५६२॥
रसः प्रधानः परिशान्त उक्थो बलप्रधानः क्रमतेऽर्क एषः ।
यञ्जूर्यजुर्नाम तदित्थमेको द्विरूप आत्मास्ति हि विश्वबीजम् ॥५६३॥
चित्तावदुक्थं तत एव चान्तरोऽप्युत्तिष्ठते धर्म्मगणो बहिस्तथा ।
अर्कोऽन्नभोक्ताऽशितिरन्नमित्युभे तदुक्थगर्भे परिनिष्ठितं समम् ॥५६४॥
अन्नं तथान्नाद इति द्वयं सहावतिष्ठते ह्यावयनाभिधेऽम्बरे ।
तत्रावकाशे परमाश्रये स्थितोऽन्नादोऽन्नमश्नाति यथेच्छमात्मने ।५६५।
यत् सृज्यते तत् त्रिकमेव साकं ह्यन्नादमस्या वयनं तदन्नम् ।
न क्षीयतेऽन्नं न निरन्नमन्नात्स्यात्तद्द्वयं चावयनप्रतिष्ठम् ॥५६६॥
अन्नादमन्नावयने इति त्रयं तथोक्थमर्कोऽशितिरित्यपि त्रयम् ।
प्रत्यर्थसाधारणमस्ति तद्बलादिहान्नभुक् सर्वमिति प्रचक्षते ॥५६७॥

याजुषाशितेर्यज्ञरूपत्वम् ॥

विस्रंस्य नित्यं यजुषो रसोऽन्नं यदेति तेनात्मनि हीयतेऽर्कः ।
तत्राशनायोदयते ततोऽर्कस्थानेऽशितिर्हूयत एष यज्ञः ॥५६८॥
कुण्डे यथाग्निर्चलितोऽपचीयते हविर्यदा हूयत ऊर्ग्भवत्पदः ।
ततोऽग्निरुद्भूय तु पूर्ववत्पुनः संपादयत्यग्निशिखां प्रवृंहिताम् ।५६९।
एवं शरीरेऽप्यपचीयते रसोऽन्नस्य क्रमात्तेन बुभुक्षितोऽभवन् ।
अन्नं हरत्यन्नत ऊर्क् ततः पुनः प्राणः स वै जीवनयज्ञसंविधिः ॥५७०॥
तथाहि सर्वत्र तदुक्थमात्माऽऽकाशो यदार्कोद्भवरेतसोऽन्नातः ।
क्षिणोति विस्रंसनतोनिसर्गात्तदाऽन्नयज्ञः क्रमतेऽर्कसिद्ध्यै ॥५७१॥
यन्नित्यविस्रस्तरसं द्रुपर्णं चिरं हरित्स्निग्धरसं स यज्ञः ।
प्रवृक्णवृन्तं यदिदं विशुष्यंत्यशितप्रलाभान्म्रियते तदर्कः ॥५७२॥

याजुषाशितेरुच्छिष्टतः सृष्टिः ॥

जूरेष आकाश इहास्ति नित्यं यन्नाम किञ्चिद्गतिमत्स्वभावम् ।
द्वयं सहैकं प्रवदन्ति यज्जूभूतं यजुर्नामततोऽस्ति सृष्टिः ॥५७३॥
अर्कोऽयमन्नादशितिं यदश्नात्याप्यायते तेन ततोधिकश्चेत् ।
भागः स विश्वस्य भवेत् प्रवर्ग्यः स एष उच्छिष्ट इति प्रसिद्धिः ॥५७४॥

आत्मायमुच्छिष्टत एव सर्वां सृष्टिं करोतीति वदत्यथर्वा ।
आप्यायमानस्य तदस्य शुक्रं सृष्ट्यै न चेच्छीर्ण्णि मनस्त्वमेति ॥५७५॥
उच्छिष्टतः सृष्टिरियं तु भेदात्स्यात् स्रोतसोर्ध्वेन तदात्मवृद्धिः ।
आत्माङ्गयुष्टिः पशुभिस्तिरश्चाऽधः स्रोतसा पुत्रवदन्य आत्मा ।५७६।

यजुषार्कद्वैरुप्यात्सृष्टिद्वैरुप्यम् ॥

प्रजापतिर्वायुविधो य इन्द्रो विराट् च सोऽयं द्विविधः स्वभावात् ।
मृत्युस्तदूर्ध्वं ह्यमृतं तदर्धं भूतानि देवाश्च भवन्ति ताभ्याम् ॥५७७॥
वागिन्द्र आकाशविधोऽस्ति मर्त्यो भूतानि मर्त्यानि ततोऽर्कतःस्युः ।
वागिन्द्र आकाशविधोऽमृतीयो भवन्ति देवा अमृतास्ततोऽर्कात् ।५७८।

शून्यं तु नाकाशपदात्प्रदीयान्न सर्वथा रिक्तमिहास्ति किञ्चित् ।
भूताश्च देवाश्च पराणुसूक्ष्माद् यत्सूक्ष्ममाकाशमिदं स इन्द्रः ॥५७९॥
मनश्च वागग्निरिति त्रिभूतं स्यान्त्रिभुंजत्वे परिमण्डलत्वे ।
प्राणश्च वायुश्च तथाप इत्थं प्रतृणभूतत्रयमित्यवेयात् ॥५८०॥

मनोणु यत्स्थूलतयास्ति सोऽग्निः शब्दस्तु वाङ्मध्यमवृत्तिरस्ति ।
प्राक् प्राण एवाप इमा अभूवन् वायुस्तयोर्मध्यमवृत्तिरस्ति ॥५८१॥
मनश्च वागग्निरिति त्रिदेवं स्यान्त्रिभुंजत्वे परिमण्डलत्वे ।
सोमश्च वायुश्च तथाप इत्थं प्रतृणदेवत्रयमत्र विद्यात् ॥५८२॥

प्रतृणदेवा भृगवस्त्रयस्ते सोमश्च वायुश्च तथाप एताः ॥
मनोरविर्वाग् यमनस्त्विलाग्निर्देवास्त्रयोऽप्यङ्गिरसस्त्रिलोक्याम् ॥५८३॥
सृष्टिर्यथास्माद् यजुषस्तदूर्ध्वं वक्ष्यामि वेदेऽक्षरकायभेदे ।
बलत्रिचित्या तु रसो मनोऽभूद् विना यजुः स प्रथमोऽस्ति सर्गः ।५८४।

२२ मूलविवर्ते वैराजविवर्तविचारः ॥

(वैराजाधिकरणम्)

वैराजे विवर्ते वैराजमनोरर्द्धेन्द्रत्वम् ॥

इन्द्राग्निसोमेषु य इन्द्र उक्तः प्राणैः स सप्तानुविधैः परीतः ।
चतुर्भिरात्मा त्रिभिरङ्गमस्मिन्नासज्जते तैः क्रियतेऽग्निरेकः ॥५८५॥
सोऽग्निर्विराडन्नमयोस्ति तस्मिन् भूतानि देवाश्च समं सचन्ते ।
भूतैः शरीरावयवास्तदन्तर्देवैः क्रिया सर्वविधा भवन्ति ॥५८६॥
पूर्णेन्द्रतो वर्तुलवृत्तरूपा पृथ्वी विराट् सूर्य्यविराट् तथान्या ।
अर्द्धेन्द्रितो मैथुनिनः पुमांसः स्त्रियश्च नानाकृतयो भवन्ति ॥५८७॥
पूर्णेन्द्रवत्यत्र विराजि सर्वान् प्राणान् स इन्धे स्वयमिन्द्र एव ।
शास्ति स्वयम्भूस्तु मनुः समन्तात् प्राणानिहार्द्धेन्द्रविराजि तद्वत् ॥
सूर्य्ये पृथिव्यामितरत्र वेन्द्रो यः पूर्ण आसीत्स भवन् द्विखण्डः ।
मनुः पुमांसं त्विह सोमखण्डस्तेन मनुर्योषितमग्निखण्डः ॥५८९॥
सोमोऽग्निमन्तः कुरुतेग्निरात्मा रेतो नियुंक्ते पुरुषे तु सोमम् ।
स्त्रियां तु सोमोऽग्निनिगूढ आत्मा धत्तेऽङ्ग रूपं रुधिराग्निरेतः ॥५९०॥
योषित्ततः कामयतेऽग्निरेतास्तं सोमवीर्य्यं नरमात्मपूर्त्यै ।
नारीं नरोपीच्छति योगकाले पूर्णोऽभवन्मोदत इन्द्र आत्मा ॥५९१॥
स्त्री पूरुषं प्राप्य पुमानपि स्त्रियं पूर्णात्मतामेति परार्द्धयोगतः ।
आनन्दमाप्नोति ततो रसान्वयादर्द्धेन्द्रतां जीवतनोरतो विदुः ॥५९२॥
अर्द्धेन्द्रता स्त्रीपुरुषप्रभेदो जीवे ससंज्ञेस्ति यथा तथास्मिन् ।
निगूढसंज्ञेस्ति च नष्टसंज्ञे तदूदुः परीक्ष्यं च तथास्त्ययोग्यम् ॥५९३॥

पाञ्चदैवत्ये विराजो माध्यमिकत्वम् ॥

इत्थं विराडन्नमयोऽस्ति कोशो विष्णुः स तत्रान्तरितोऽयमिन्द्रः ।
स प्राणकोशो मनसश्च कोशः प्रजापतिस्त्वन्तरितोन्यकोशः ॥५९४॥
प्रजापतौ ब्रह्मणि सर्द्धिमिन्द्रो विष्णुश्च नित्यं स युजौ रमेते ।
इन्द्रं सहप्राणमयं सहस्रं विष्णुस्तु तद्वाङ्मयमातनोति ॥५९५॥

यावत् सहस्रं ततमस्ति तावानग्निः स साहस्रमपुष्यदेतत् ।
एतावदात्मा ध्रियते तदूर्ध्वं सोमोऽन्नमग्नेरिति पूर्वमुक्तम् ॥५९६॥
अग्निश्च रुद्रो वरुणास्त्रिधाग्निर्वने च वायौ च घृणौ नियोगात् ।
सोमो द्विधा भास्वरदिक्प्रभेदादेषां च सोमाग्निपदप्रपत्तिः ॥५९७॥
सोमावृतो योऽग्निरनेन विष्णुर्विराड् वृतस्तेन सहायमिन्द्रः ।
प्रजापतिः सर्वममुं दधानो गर्भेस्ति तत्रेदमशेषमस्ति ॥५९८॥
प्रजापतिर्वा स विराट् स इन्द्रो नभ्यः स सर्वः स इति प्रभेदात् ।
द्विधा द्विधाऽऽकाशविधश्च तत्र प्रवर्तते वायुविधश्च तद्वत् ॥५९९॥

विराजि-विवर्तरूपाणि ॥

प्रत्यर्थमित्थं खलु निर्विशेषं यत् पाञ्चदैवत्यमिदं विभाति ।
उक्थं विराट् तत्र यदस्ति तस्मिन्नाख्यायतेऽन्योपि विवर्तभेदः ॥६००॥
व्योमद्वितीयं यदि वाद्यमेतच्छन्दो वयोनाधमिति प्रसिद्धम् ।
व्योमद्वये यात्वशितिर्निविष्टा तदन्नमेतेन कृतोदरत्वात् ॥६०१॥
वयस्तदन्नं वय एव रूपं यद्वस्तु कृत्वा प्रतिभाति किञ्चिद् ।
यत्तत्र मर्त्ये वयसि प्रभाति प्राणेऽमृतं तद्वयुनं प्रविद्यात् ॥६०२॥
वयो वयोनाधवदुक्थमस्मिन् विज्ञायते यद् वयुनं तु सोऽर्कः ।
यदग्निवाय्वादिकमन्नमश्नन्नर्कः स जीवत्यशितिर्मता सा ॥६०३॥
प्राहैतरेयः पृथवीयमुक्थं तत्राग्निरर्कोऽशितिरस्य तु द्यौः ।
द्यौः सूर्य्यबिम्बोस्ति तदुक्थमर्कस्त्विन्द्रोऽस्ति तस्याशितिरस्ति पृथवी ॥
वीर्य्यप्रभावः स गुणोऽर्थशक्तिः सर्वं तदेनद्वयुनं प्रविद्यात् ।
वीर्य्यादिरर्कः स्वबलानुसारादश्नाति सोन्योन्यपदार्थधर्मान् ॥६०५॥

२३. चेतनाचातुर्विध्ये सृष्टिचेतनाविचारः ॥

(सृष्टिचेतनाधिकरणम्)

सृष्टिचित्या पुरुषसिद्धिः ।

अतः परं सृष्टी चितिर्विवक्ष्यते यत्रैकमन्येन सहाभियुज्यते ।
ततोऽव्ययाद्याः पुरुषा मनस्यमी सिध्यन्ति यद्ग्रामकृतोस्ति विग्रहः ॥

रसो मनस्यादिह यो बलेनावच्छिद्यते तन्मनसा मनोन्यत् ।
संयुज्यते सा चितिरत्र पूर्वावच्छेदनाशादपरोऽर्थ ऊर्मिः ॥६०७॥

पुरुषजनके मनसि पुरुषत्वाभावः ॥

सहचरबलरक्षसालक्षणमविशेषभावनाहेतुः ।
चितिसंसृष्टी बलत्व बलसृष्टीं वस्तुसृष्टीमन्वाहुः ॥६०८॥
बलयोरेकैव चितिः प्रथमा सृष्टीः परात्परो नाम ।
चितिमनु चितयो बह्व्यो बन्धेबन्धाः स्युरेषपुरुषः स्यात् ॥६०९॥
बलबन्धे यो हेतुस्तं विज्ञातुं न शक्नुमः कार्त्स्न्यात् ।
बलमेव तु बलबन्धे बन्धविमोक्षे च हेतुः स्यात् ॥६१०॥
नानात्वान्वयिता-विक्षेपित्व-समत्वतस्तु वैचित्र्यम् ।
बलवैचित्र्यात्तच्चितिवैचित्र्याद्वा त्रयस्तु पुरुषाः स्युः ॥६११॥
ये विग्रहाः यूस्तास्तासु हि पुरुषा वसन्ति संनद्धाः ।
यत्रैति विग्रहोऽयं पुरुषास्तत्रैव यान्ति संयुक्ताः ॥६१२॥
पुरि वसतः पुरुषत्वं यदि चेन्मनसः कुतो न पुरुषत्वम् ।
इति शंका न विधेया मनसि हि पूर्वसतिर्न पुरि मनः ॥६१३॥
पुरुषा हि विग्रहस्था विग्रहगतिमनुगताः स्युराकृष्टाः ।
न मनो याति स्त्रोतसि भाति प्रतिबिम्बवत्तु मनः ॥६१४॥

प्रत्यगात्माभ्युपपत्तिः ॥

पौत्रः प्राणपतेस्तु हीरकसुतो यो देवनाथः सुधीः ।
पौत्रस्तस्य हि वैद्यनाथः तनयो राजीवनेत्रेण यः ॥६१५॥
तातज्येष्ठसहोदरेण विधिना नीतो धिया पुत्रतां ।
सोऽयं श्रीमधुसूदनोऽभिमनुते विश्वैक-मूलं मनः ॥६१६॥
नित्यैकान्तसदोनिवासनिरतः शान्तिप्रियः सुस्थिरः ।
शीघ्रक्रोधदयोदयः कृशतनुर्मितथात्र्यशीयङ्कुलः ॥६१७॥
अन्यस्वार्थविधानवाद्यविमुखो निर्द्रोहनिष्प्रेमधीः ।
निर्मानो मधुसूदनोभिमनुते सर्वातिगं तन्मनः ॥६१८॥

नं नं च श्लोकास्त इमे मनसोऽनुगमा मनःसमुद्राद्धि ।
मनसोद्धृता मनस्याधेया मनसैव मननीयाः ॥६१९॥

इति श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते ब्रह्मविज्ञानशास्त्रे शुक्लत्रिसत्याख्ये प्रजापतिसिद्धान्तविज्ञानग्रन्थे परात्परानुवाको नाम द्वितीयोऽनुवाकः सम्पूर्णः ॥

अव्ययानुवाकः

वीर्यत्रय-कोशत्रयम्

ये चाविशेषादभवन् विशेषास्ते वीर्य्यकोशाः सयुजस्त्रयः स्युः ।
ब्रह्माथ च क्षत्रमथो विडित्थं तिस्रो जगद्वीर्यकजातयः स्युः ॥६२०॥
विश्वस्य विस्तारकृतो हि तिस्रस्तिस्रश्च निस्तारकृतस्तदित्थम् ।
कोशाश्च तासां द्विविधा हि बाह्या आभ्यन्तराश्चिति विशिष्य विद्यात् ॥६२१॥
विद्याद् ब्रह्मज्ञानविज्ञानवेदावायुर्व्योमोक्थत्वयज्ञादिधर्मान् ।
क्षत्रं राष्ट्रं चेश्वरत्वं प्रभुत्वं संभोक्तृत्वं शासकत्वं वशित्वम् ॥६२२॥
विड्धर्माश्चेड्वकंपशुक्षेत्रसम्पद्भोगा अन्नं श्रीव्यतीहाररय्यः ।
वीर्यं रेभिर्वेद्दशैः पौरुषेयैर्व्याप्तं सर्वं पौरुषं हीदमस्ति ॥७२३॥
ब्रह्मादिवीर्य्यत्रितयस्य कोशाः क्रमान्मनःप्राणवचांसि सन्ति ।
प्राणोऽपि वाचोऽथ मनोऽपि तस्य प्राणस्य कोशः पुरुषो मनस्तत् ॥६२४॥
रसो बलच्छन्दनतो मनः स्यात् प्राणो बलं सर्वविधं रसात्तम् ।
प्राणो यदि प्राणत एति बन्धं सा वाक् तदत्राखिलभूतबीजम् ॥६२५॥
रसेऽमृते मृत्युबलत्रयान्वयात् त्रयोऽविशेषस्य विशेषका बभुः ।
त्रिधातुरात्मा पुरुषस्ततोऽभवन्मनोमयः प्राणमयश्च वाङ्मयः ॥६२६॥
यः शान्त आसीदकलः परात्परः स एव सृष्ट्वा प्रविवेशताननु ।
एकत्र तस्मिन्निहिता इमे त्रयस्ततस्त्रिधातुः पुरुषः परात्परः ॥६२७॥
सोऽयं त्रिकोशः पुरुषस्त्रिधातुतो वीर्य्याणि त्रीण्युदियन्ति कोशतः ।
ब्रह्मेतिवीर्य्यं मनसि प्रपद्यते प्राणे त्विदं क्षत्रमुदेति वाचि विट् ॥६२८॥
बाह्यानि वीर्य्याणि तदित्थमेभिर्बाह्यैस्तु कोशैरुदियन्ति तद्वत् ।
आभ्यन्तराण्यान्तरकोशतस्तैरानन्दविज्ञानमनोऽभिधानैः ॥६२९॥

आन्दविज्ञानमनांसि वीर्य्याण्यग्र्याणि पूर्व्याणि तथोत्तमानि ।
बाह्यानि वाक्प्राणमनांसि सर्व्याण्यत्रोभयस्मिन् मनसः प्रभावः ॥६३०॥
क्षत्रं हि विज्ञानमथो विशं सुखं प्राहुर्मनोब्रह्मतदान्तरे गणे ।
विज्ञानमानन्दनियोजकं मनस्येवाथ विज्ञानमुदेति नोदितम् ॥६३१॥
प्र णं विदुः क्षत्रमथो विशं विदुर्वाचं मनोब्रह्मविदुस्त्रिके गणे ।
प्राणो हि वाचः, प्रथते नियोजकः प्राणस्य चेदं हि मनो नियोजकम् ।६३२।
ब्रह्माथ च क्षत्रमथो विडेतद्धर्मत्रयान्योन्यसमन्वयेन ।
स्यादैकतन्त्र्यं पुरुषस्य रूपं नैकं विनान्येन कदाचिदेषाम् ॥६३३॥
ब्रह्मेदमावाप इहैव संस्थाऽन्नादान्तयोरोप्यत एष योनिः ।
ब्रह्मोदये निश्चितमेव तत्रोपतिष्ठते भोग्यमुतास्य भोक्ता ॥६३४॥
विड्ब्रह्म च, क्षत्रमुपेत्य यद्वत् स्थितिं लभेते हि तथा मनश्च ।
वाक् चाश्रयं प्राणमुपेत्य नूनं स्थितिं लभेते स वसिष्ठ एषाम् ॥६३५॥

त्रिधातुपुरुषः ।

इत्थं त्रिकोशोऽथ च पञ्चकोशो योऽर्थस्तमाहुः पुरुषं ततोऽस्मात् ।
त्रिजातिवीर्य्याण्युदियन्ति तत्तत्कोशादजस्रं बहुशोऽल्पशो वा ॥६३६॥
यो निर्विशेषात् स विशेष आत्मा स पूरुषः, पूरुष एव सर्वम् ।
भूतं भविष्यच्च भवच्च यत्तन्न पूरुषादन्यदिहास्ति किञ्चित् ॥६३७॥

पुरुषस्यैव संस्थाविशेषात् प्रजापतित्वम् ।

संस्थाविशेषात् पुरुषः स एव प्रजापतिः कथ्यत इत्थमाहुः ।
एकस्य कोशो महिमा परस्योपाधिः स धातुर्महिमापि कोशात् ॥६३८॥
वेदाश्च यज्ञाश्च प्रशु-प्रजाश्च त्रयः प्रथन्ते महिमान एते ।
वेदो वपुर्जीवनमस्य यज्ञः, कर्मप्रजा, वित्तमलं पशु स्यात् ॥६३९॥
प्रजापतिर्य्यः पुरुषोऽव्ययोऽसावेकोऽयमर्थः प्रतिभिन्नसंस्थः ।
भवेद्विशिष्टाः पुरुषो महिम्ना विशिष्ट एवोपहितोपि सोऽस्ति ॥६४०॥
वीर्य्यत्रयाढ्यो बलवद्रसो यः स पूरुषस्तं महिमत्रयाढ्यम् ।
प्रजापतिं प्राहुरिमं च भक्त्या विशिष्टरूपं पुरुषं वदामः ॥६४१॥

पुरुषत्रैविध्यम्

अव्याकृतो व्याकरणात्तु पूरुषस्त्रिभक्तिक्लृप्तः प्रतिभाति स त्रिधा ।
सन्त्यव्ययाः केऽप्यथ केऽपि चाक्षराः क्षराश्च केप्यत्र, न सन्त्यतो परे ॥
रसो गुडः शर्करिकाः सितोपला बलानुवृद्धिः क्रमतोऽन्यथान्यथा ।
बलानुवृद्धिक्रमतस्तथा रसोऽव्ययोऽक्षरश्च क्षर एष जायते ॥६४३॥

आवापभावो जनकश्च भावो जन्यश्च भावः क्रमशस्त एते ।
यत् सृज्यते विक्रियते क्षरं तत् तस्याक्षरं स्रष्टृ तदव्ययस्थम् ॥६४४॥
आवाप एवाव्यय एत्य योगं प्राप्य प्रतिष्ठामुपयाति रूपम् ।
तदक्षरं सृष्टिकृते क्षमं स्यात् सृष्टं क्षरं तन्निचितं शरीरम् ॥६४५॥

प्रत्यव्ययं चाक्षरयोगयोग्यता प्रत्यक्षरं च क्षरसृष्टिकर्तृता ।
प्रतिक्षरं च क्षणभावि नाशिना तथा त्रयाणां सह योगिता मता ॥६४६॥
त्रयोऽपि वाक्प्राणमनोभिराप्ता आनन्दविज्ञानमनोभिराप्ताः ।
बहिर्विदस्ते त्रिरसा यथा तैरन्तर्विदस्ते त्रिरसास्तथाऽन्यैः ॥६४७॥
त्रयोऽपि ते पञ्च रसास्तदित्थं भावा भवन्ति प्रतिभावमेते ।
पञ्चापि भिन्नानुविधा रसाः स्युर्न्यूनाधिका शुद्धमलीमसा वा ॥६४८॥

आनन्दविज्ञानमतोऽसुवाचां शुद्धिश्च मात्राऽस्त्यधिकोत्तमानाम् ।
तत्राव्ययेऽथ क्षरगा निकृष्टो स्युरक्षरे मध्यमशुद्धिमात्राः ॥६४९॥
महाव्ययास्तद्गृहराव्यया वा महाक्षरास्तद्गृहराक्षरा वा ।
समानवीर्य्यानुविधाः स्युरल्पे मात्राल्पता त्वायतनानुसारात् ॥६५०॥
अव्यक्त एवाव्यय उच्यतेऽयं क्षराक्षरव्यक्तिरिहाव्ययेऽभूत् ।
या व्यक्तयः काश्चिदिहाव्यये स्युः क्षराक्षराभ्यां न विना कृतास्ते ॥६५१॥
अव्यक्तमस्त्यव्ययमक्षरं च व्यक्तं क्षरं सर्वमिदं ततोऽभूत् ।
कात्स्न्यात् क्षरा अक्षरमप्ययन्तेऽव्यये तु तस्याव्यय एष सर्वः ॥६५२॥
क्षरस्तु सर्वोऽप्यवरः, परावरः स्यादक्षरोऽथाव्यय उच्यते परः ।
परावरः सेतुरितोऽवरं जगत् , परं तु तद्ब्रह्म यतो विमुच्यते ॥६५३॥
एषोऽव्ययस्तूत्तम एष चाक्षरः स्यान्मध्यमोऽथ प्रथमः स यः क्षरः ।
एकैक एषां त्रिभिरस्ति पौरुषैर्धर्मैरुपेतो बहिरन्तरेऽपि वा ॥६५४॥

क्षराणि भूतानि हि तानि लोको जानाति यस्त्वक्षरमेषु विद्यात् ।
स श्रेयसा युज्यत एव तस्य क्षरा यथेच्छं प्रभवन्ति सृष्टाः ॥६५५॥
यस्त्वव्ययं वेत्ति परो वरीयं क्षरेऽक्षरेऽपि क्षमतां स गच्छेत् । ।
न विद्यते तस्य किमप्यसाध्यं शान्ताव्ययं प्राप्य विमुच्यते सः ॥६५६॥

त्रिपुरुष-विग्रहत्रैविध्यम् ।

एषां त्रयाणामिह यत्र संग्रहः स विग्रहः, स त्रिविधो विविच्यते ।
क्षुद्रोऽस्ति जीवोऽथ महानिहेश्वरो महत्तरोऽन्यः परमेश्वरो ध्रुवः ॥६५७॥
ये विग्रहा भूतभृतस्त्रयोऽप्यमी आरम्भ एषां पुरुषेभ्य इष्यते ।
क्षरोऽक्षरादक्षर एष चाव्ययादुदेति ते नाव्ययमादितो ब्रुवे ॥६५८॥

चिच्चेतना

रसोऽमृतं, मृत्युरिहाहितं बलं तत्खण्डखण्डं, पृथगुत्थितिक्षिति ।
रसोऽमृतं विभ्वपि मृत्युसंवृतं, धत्तेऽणिमानं प्रमितम्भवेत्ततः ॥६५९॥
रसे क्रिया नास्ति, न तत् स्वतः क्रियां करोति, नो विक्रियते कदाप्ययम् ।
बलं तु तत्र स्वयमेव यद् यथा क्षुभ्णाति, तद्वत् स रसोऽपि लक्ष्यते ॥६६०॥
बलैर्विना नैष रसोऽनुलक्ष्यते, रसो बलाढ्यस्तु मनस्तदव्ययम् ।
तदेकमानन्दरसं ततो बलं रसात्तमुत्क्रामति साऽस्य चेतना ॥६६३॥
तच्चेतनाकृतसरसश्चिदुच्यते सनाभिरेतं परितोऽस्य चेतना ।
स चेतनातः सहितश्चिदव्ययः, परात्परोऽस्य प्रभवः परः स्वयम् ।
अश्लक्ष्णवस्त्रे मसिबिन्दुपातनाद्रसो घनस्तत्र विभाति तद्बहिः ॥६६४॥
रसः परिस्रस्य तनोति मण्डलं चिच्चेतने तद्वदिमे परात्परे ।
वायुर्यथद्भिस्तनुते परिश्रितः सूर्ये विधौ वा परिवेषमण्डलम् ॥६५५॥
सूर्यो विधुर्वा तनुतेंऽशुमण्डलं तथा चितीयं परितोऽस्ति चेतना ।
शिखोर्ध्वगन्त्रीति स भिद्यतेऽर्थो गभस्तितः सर्वदिगाप्तिवृत्तेः ।
सा चेतना सर्वदिशीत्यतोऽन्या चिन्नाभिगोऽन्यो द्विरसोऽव्ययस्तत् ॥६६६॥

चिच्चेतनयोर्मनुमन्त्रत्वम् ।

नाभौ चितं प्राह मनुं स सर्वज्ञानाकरस्तत्र तु चेतनायाः ।
सा नाम वेदास्त्रय एव मन्त्रा मनार्ऋचो जज्ञिरे इत्थमाहुः ॥६६७॥

प्रष्ठांशकाम्यं चितिचेतनाया: सामर्च आन्ताद्वितताश्चितोऽस्याम् ।
आनन्दविज्ञानमनोऽसुवाचो यजूंषि रूपं मनसस्त्रयीयम् ॥६६८॥

मनुश्च मन्त्राश्च मनोविभागे यथा तथा प्राणवचो विभागे ।
यथाऽव्यये तद्वदिहाक्षरेऽपि क्षरेपि सर्वत्र समं प्रविद्यात् ॥६६९॥

सर्वांस्तु धर्मान्मनुरेष वाचा प्राख्यापयत्येष च तत्प्रशास्ता ।
प्राणाश्च कार्त्स्न्यादृषयः प्रजाता अस्मान्मनोरेव ततोऽत्र सृष्टिः ॥६७०॥

अणोरणीयानखिलः प्रशास्ता रुक्मप्रभः स्वाप्निकबोधगम्यः ।
मनुः परः पूरुष इत्यवेयादित्थं भृगुः प्राह मनुस्मृतौ हि ॥६७१॥

प्राणं तमग्निं ब्रुवते तमिन्द्रं प्रजापतिं ब्रह्म च केचिदाहुः ।
तमव्ययस्थं च तमक्षरस्थं क्षरस्थमन्यान्यविधं तथाहुः ॥६७२॥

चेतनावपुषोऽव्ययस्य नानाकृतिकत्वम्

चिच्चेतना चेति मनो द्विधा यच्चित्कन्दलं नाभिगतं तदुत्था ।
सा चेतना व्याप्तिमती समन्ताद् यावत् प्रमाणादियदेव वर्ष्म ॥६७३॥

या चेतना यच्चिदुभे अपीमे दिग्देशकालाप्रमिते अरूपे ।
प्राणेन धर्त्रा प्रमितेन योगात् प्रमाणतस्ते भवतो गृहीते ॥६७४॥

तावत् प्रमाणात्वियमत्र यावाक् तयाभिपन्ने भवतोऽप्युभे ते ।
नाभौ ततः कन्दलपिण्ड एवं क्षेत्रं समन्तात् प्रसृतं वपुः स्यात् ॥६७५॥

तदव्ययस्येत्थमिदं शरीरं प्राणेन वाचा मनसैव क्लृप्तम् ।
न त्वत्र देवा न च भूतभेदा न चाप्यविद्या न च शुक्रमस्ति ॥६७६॥

मनोऽशनायामयमस्ति तस्मादिच्छा विचित्रा उदियन्त्यकस्मात् ।
इच्छाविशेषाद्वपुराकृतौ तु स्युरव्ययानां बहवः प्रभेदाः ॥६७६॥

तदव्ययानां वपुषः प्रभेदात् क्षराक्षरा येऽत्र भवन्ति भिन्नाः ।
ततो विचित्राकृतयोऽत्र जीवा दृश्यन्त इत्यव्ययमूलकास्ते ॥६७८॥

अव्यक्तमेवाव्ययमस्ति तत्राक्षरप्रभावात् क्षरसृष्टितश्च ।
व्यक्तिर्भवत्येवमयं समस्तः क्षरप्रपञ्चोऽव्ययमूलकोऽस्ति ॥६७९॥

ज्ञानकर्म्मचितिः १

सा चेतना ज्ञानविधानलक्षणाऽत्र लक्षणाऽङ्गाङ्गिविधा विचक्षणा ।
चतुर्विधाभिश्चितिभिश्चतुर्विधा विभूतिरेतस्य चितोऽनुलक्ष्यते ॥६८०॥
ज्ञानं च कर्मेत्युभयं यदेकं व्यामुग्धमव्याकृतमस्ति किञ्चित् ।
तद्वै मनोरूपमितः पृथग्वद् ज्ञानं च कर्माप्युदयं लभेते ॥६८१॥
तदस्ति कर्मेति गतिस्वभावं गच्छेदथ ज्ञानमतो न गच्छेत् ।
स्थितिस्वभावं हि विकासि तत्रोत्सीदत्यथोत्क्रामति चेतना सा ॥६८२॥
मनश्चिदन्तश्च बहिश्चितं भवेद् ज्ञानं तदन्तस्तु बहिस्तु कर्म तत् ।
अन्तर्बहिश्चेत्युभयी स्वभावतोऽमृतस्य मृत्योश्च चितिः प्रवर्तते ॥६८३॥
अन्तश्चितेः साक्षिरसो हि भाति बहिश्चितेः साक्षिरसस्तु सत्ता ।
अस्त्या च भात्या च कृतं धृतं वा समस्तमेतज्जगदस्ति भाति ॥६८४॥
बहिश्चितिश्चेत् प्रतिरुध्यते तदाऽमृतस्य रूपाणि भवन्ति हीनवत् ।
मृत्योः प्रकर्षादिहरूपमव्ययः सुप्तं निरानन्दमुपैति भौतिकम् ॥६८५॥
यश्चेतनस्तत्र तदक्षरेऽव्ययः सोऽन्तर्बहिस्तामिह तारतम्यः ।
चितिं प्रयातीत्यसुखः सुखाधिको नानाविधो जीवगणोऽभिलक्ष्यते ॥६८६॥

अर्कचितिः २

अन्तश्चितिर्ज्ञानमयी सुखोदया, भूतोदया कर्म्ममयी बहिश्चितिः ।
तत्रोक्थमर्कोऽप्यशितिस्त्रिधान्तरे चितिर्बहिर्धापि तथा त्रिधा चितिः ॥६८७॥
मनो रसे यद्धि बलं मनस्वकृत् सैषाशनायाऽस्त्यमतिश्च सोच्यते ।
सा मृत्युरेतेन पुरेदमावृतं मनोऽचरत् सोऽर्क इहाभवत् ततः ॥६८८॥
यत्राशनायास्ति मनस्तदिष्यते साऽत्रोत्थितानुत्थितभेदतो द्विधा ।
उक्थं मनोऽनुत्थितया तु लक्ष्यतेऽथोद्बुद्धयाऽर्कोऽस्ति स कार्य्यकालम् ।६८९।
सा कार्य्यकाला द्विविधास्ति बन्धनी चोन्मोचनी चेति, बलं हि वेष्टनम् ।
आवेष्टनं बध्नाति बलं रसद्वयं तं प्राणमाहुस्तत आविरस्ति वाक् ॥६९०॥
उन्मोचनं ज्ञानमिदं विवेचकं विवेचनातः कुरुते पृथक् पृथक् ।
आवेष्टितं वेष्टनतो विमोच्यत्युन्मुग्धमर्थं च विकास्य पश्यति ॥६९१॥

रसो यदैतद् बलवेष्टनात् पृथग् विमुच्यते, ज्ञानमिति प्रवर्द्धते ।
आत्मश्रियं पश्यति वर्द्धितां यदाऽऽनन्दस्तदा ज्ञानमितेर्विकासतः ॥६९२॥
इच्छैव तत्रोभयमार्गसाक्षिणी सा चाशनायैव विभिन्नलक्षणा ।
सदाऽव्ययः पञ्चरसः सिसृक्षया मुमुक्षया वा तनुतेऽखिलान् रसान् ॥६९३॥
प्राणः सिसृक्षावशतः सहायतामानन्दविज्ञानकले नयत्ययम् ।
ज्ञानं मुमुक्षावशतः सहायतां प्राणं च वाचं नयते तथाऽऽत्मने ॥६९४॥
अन्तश्चितावुक्थमिदं मनस्ततो विज्ञानमर्को रससंवृतिं हरेत् ।
विज्ञानमानन्दममृत्युसंहितं धृत्वोदरे पुष्यति तेन ऋद्ध्यते ॥६९५॥
बहिश्चितावुक्थमिदं मनस्ततः प्राणोऽयमर्कोऽधिरसं बलं नयेत् ।
सत्तारसो मृत्युधृतो हि वागसौ प्राणस्तमश्नन् रसमेष ऋध्यते ॥६९६॥
मनो यदानन्दमयं प्रफुल्लं तदोच्छलत् स्याद्बलमुत्तरङ्गम् ।
यद्युन्मना वा विमनास्तदानीं स्याद्दुर्बलत्वाच्छ्लथभङ्गमस्य ॥६९७॥
उक्थं मनश्चावपनं तदुत्थितस्तत्रैव सोऽर्कोऽशितिमश्नुते निजाम् ।
प्राणः स विज्ञानमिदं, न कर्षेतो वाचं तथानन्दममुं मनो विना ॥६९८॥
द्विधा मनस्तद्विनियुज्यते तद् विज्ञानमानन्दमसुं च वाचम् ।
स्वतस्तनोत्येवमिदं चतुर्णामाकाशवन्निर्विकृता प्रतिष्ठा ॥६९९॥
प्राणेन वाचा मनसा चितेते चिच्चेतने चेति बहिश्चितिर्या ।
निरुक्तमेतन्मनसोऽस्ति रूपं तद्वै समृद्धं जगदेतदस्ति ॥७००॥
अथानिरुक्तं मनसोऽस्ति रूपं शान्तं परं यत्र जगन्न भाति ।
सान्तश्चितिस्तत्र तु चेतना चिच्चानन्दविज्ञानमनश्चिते स्तः ॥७०१॥
सानन्दविज्ञानकृतं मनोऽर्द्धं स वागबलेनापरमर्द्धमाप्तम् ।
तत्सृष्टिनिस्तारकृते मनोऽन्तर्मतिं बहिर्धा तु करोति सृष्टौ ॥७०२॥
विज्ञानतः सृष्टिकृतोऽखिलार्था दृष्टा विविक्ता निजबीजरूपैः
ज्ञाताः क्रमादात्मनि संस्थिताश्चेदैकात्मता ज्ञानत उद्धृतिः स्यात् ॥७०३॥
प्राणाद्बलं भिन्नरसं रसेऽस्मिन् मुहुर्युनक्तीति नवो नवोऽर्थः ।
उत्पद्यते, प्रागसतोऽपि मृत्योरर्थस्य सत्ता भवतीति सृष्टिः ॥७०४॥
इत्थं मनः प्राणत एव सृष्टिं करोत्यनन्तामयमेककल्पः ।
विज्ञानतः संहरते मनस्तत् सृष्टिं समस्तामयमन्यकल्पः ॥७०५॥

आनन्द एवास्ति मनो रसत्त्वाच्छान्तं समृद्धं च मनो द्विरूपम् ।
शान्तं हि पूर्वार्द्धमथोत्तरार्द्धं समृद्धमानन्दमयं तदाहुः ॥७०६॥

विज्ञानतः संस्क्रियते यदेदं न तद्भयं विन्दति तर्हि शान्तम् ।
यदा तु तत् प्राणत एति सङ्गं समृद्धमानन्दमयं तदा स्यात् ॥७०७॥

समृद्ध आनन्द इहास्ति दुःखतः संश्लिष्ट एवाहरहः क्षयान्वयात् ।
रसः समृद्धः कुरुतेऽन्तरं यदोदरं तदा तत्र भयं प्रवर्तते ॥७०८॥

अन्नादमन्नं द्विविधा बहिश्चितिः, साऽन्तर्द्विधा चेति मनोऽस्ति पञ्चधा ।
कोशा इमे पञ्च बहिस्तु वागसौ सर्वन्तदानन्द इति क्रमं जगत् ॥७०९॥

अङ्गचितिः ३

पञ्चास्ति कोशास्त इमे पृथक्पृथाः प्रत्येकतोऽङ्गाङ्गितया चिताःस्युः ।
आत्मा च पक्षौ च शिरश्च पुच्छं ह्यात्मान्तरोऽङ्गानि तदा हि तानि ॥७१०॥

आत्मार्धमङ्गानि तथार्द्धमेषां तुरीयभागं हि तदात्मनोऽङ्गम् ।
पुच्छं त्वधोनाभिः शिरोगलोर्ध्वं पक्षौ तु दक्षोत्तरहस्तपादौ ॥७११॥

आकाश आत्मा पृथिवी तु पुच्छं प्राणः शिरः सर्वरसोऽथ पक्षौ ।
प्राणोऽप्यपानोऽपि तयोः समानोदानौ गृहीतौ तदभेदभावात् ॥७१२॥

इत्थं विदुस्तित्तिरयोऽथवात्मा व्यानः शिरः प्राण उपर्य्यथाधः ।
पुच्छं ह्यपानेन कृतं समानोदानौ तु पक्षावसुरूपपुंसः ॥७१३॥

परे विदुः प्राणमयस्य पुंसो मध्ये चतुःप्राणक इन्द्र आत्मा ।
पक्षौ च पुच्छं च शिरश्च तस्यर्षयः समन्तात् प्रचरन्ति भागात् ॥७१४॥

आदेश आत्मास्ति मनोमयेऽस्मिन् यजुः शिरः पुच्छमथर्ववेदः ।
ऋक्-सामपक्षौ स मनोमयोऽयं वेदस्वरूपः प्रभवोऽखिलानाम् ॥७१५॥

योगोऽयमात्मा, मह एव पुछं, श्रद्धा शिरोऽस्मिन्नृतसत्यपक्षौ ।
आनन्द आत्मा प्रियशीर्ष्णि, पक्षौ मोदप्रमोदावथ ब्रह्म पुच्छम् ॥७१६॥

प्रधानभागं परितस्तदित्थं पुच्छं शिरः पक्षयुगं चितं स्यात् ।
साधारणं पञ्चसु तत्र मूर्धा तुरीयमात्रोऽप्यखिलै रसैः स्यात् ॥७१७॥

वृत्तिचितिः ४ ।

विचक्षणा वृत्तिमती तु सान्या चितिर्हि सानन्दगता तु शान्तिः ।
विज्ञानवृत्तिस्तु विवेक एवं ज्ञानक्रियार्था अपरेषु ताः स्युः ॥७१८॥
त्रिधा विभक्तानि भवन्ति कार्य्याण्यर्थः क्रिया ज्ञानमिति प्रभेदात् ।
त्रीण्येव मूलानि भवेयुरेषां तान्येव वाक्प्राणमनांसि मन्ये ॥७१९॥

एषां त्रयाणां द्विविधास्त्यवस्था मूलं च तूलं च क्रियद्भिरंशैः ।
ते विक्रियन्ते विकृतं तु तूलं, मूलं यदत्राविकृतं तदाहुः ॥७२०॥
मूलत्रयंसंहतमेक आत्मा तस्यैव तूलं महिमात्मनिष्ठः ।
तेनायमात्मा न विना महिम्ना कदाचिदाभाति निसर्ग एषः ॥७२१॥

ज्ञानक्रियार्थास्त्रिगुणप्रपञ्चाः क्षराक्षरस्था न तु ते व्यवस्था ।
तेषां तु मूलानि मनोविकासप्रायाणि सन्त्यव्ययलक्षणानि ॥७२२॥

अव्ययानामनेकत्वं पञ्चरसत्वं च ।

स्वतत्त्वसीमोऽस्ति रसोऽत्र मृत्युः, क्षुद्रोऽप्यकस्माद् बहुविस्तृतो वा ।
यथायमुद्यन् वृणुतेऽमृतं तत् तथा परिच्छिद्य दधाति रूपम् ॥७२३॥
महामनाः क्षुद्रमना इतीत्थं मनः प्रभेदाद् बहवोऽव्ययाः स्युः ।
आनन्दविज्ञानमनोऽसुवाग्भिश्चैकैक आत्मास्त्युपपन्न एषाम् ॥७२४॥

यदेतदाकाशमशेषविश्वाधारं प्रपश्यामि 'महाविशालम् ।
इच्छामयं तन्मन आहुरस्मिन् प्राणाः समं वाग्भिरिमे चरन्ति ॥७२५॥
मनोऽस्ति विज्ञानघनं, तदात्मारामं निजानन्दमयं प्रशान्तम् ।
प्राणस्ततो वाचि चरन्ति सृष्ट्यै सोऽयं प्रभुः पञ्चरसोऽव्ययोस्ति ॥७२६॥

गृह्णन्ति पञ्चामृतपूर्णकुम्भादमत्रमात्रं तत एकबिन्दुम् ।
सर्वत्र पञ्चामृतभक्तयः स्युः समाः समन्तात् प्रसृता गृहीताः ॥७२७॥
एवं महाकाशगतोऽल्पमात्रोऽप्यत्यल्पमात्रोऽपि यदोद्धृतः स्यात् ।
आकाश एषोऽपि समं प्रपूर्णः क्षुद्रै रसैः पञ्चविधैर्महद्वत् ॥७२८॥

महाव्यये क्षुद्र इहाव्ययोऽन्यस्तत्राऽव्ययोऽन्यः पुनरव्ययोऽन्यः ।
भिन्नाव्ययस्याक्षरभेदभिन्नैः क्षरैः पृथग्वत् प्रभवन्ति भावाः ॥७२९॥

बृहन्मनो, व्योम्नि बलैरसंख्यैर्योवाक्प्रसारोऽधिक ईश्वरः सः।
क्षुल्ले मनो व्योम्नि तथाल्पशक्तिः क्षुद्रेण देहेन विभाति जीवः ॥७३०॥
जीवेऽप्युदारं तु मनो बहूनां सामान्यमत्यल्पमिवेतरेषाम्।
यावन्मनस्तावति खेचरन्ति प्राणा इयद्वाङ्मयमस्य वर्ष्म ॥७३१॥
यो यो महामात्र अताल्वमात्रोऽव्ययोऽस्ति सर्वत्र समं मनस्तः।
अन्तर्गता शान्तिरथो बहिर्धा प्राणान् तदन्तर्भवसृष्टयः स्युः ॥७३२॥
अन्तर्गतिं तस्य विहाय तस्मिन् यद् भूतभावोद्भवकृत् त्रिसत्यम्।
मनोबलं वागिति भेदतस्तन्निरूपयामः पृथगेकमेकम् ॥७३३॥

अव्ययधातुत्रयम्।

परेश्वरे यः प्रथमो महाव्ययस्तत्राव्यया ये पुनरेश्वराः स्युः।
जीवाव्ययाः सन्ति य ऐश्वरेऽन्ये सर्वेषु धातुत्रयमेकवत् स्यात् ॥७३४॥
प्राणो बलं, तत्र मनो रसो, वागभ्वं भवेदव्ययलक्षणं तत्।
रसं तमाभुं प्रवदन्ति, तुच्छं बलं तथाभ्वं च वदन्ति मायाम् ॥७३५॥
एषां त्रयाणामिह चोत्तरोत्तरि क्रमोऽस्ति पूर्वं रसतो बलं भवेत्।
बलात्यनन्तानि परस्परेण यं संसर्गमायान्ति तदभ्वमुच्यते ॥७३६॥
यदप्रवर्त्या वपनं रसं तं भूमानमाकाशमनन्तमाहुः।
अक्षुब्धरूपं न च मीयते तद् दिग्देशकालैरपि 'संख्ययापि ॥७३७॥
बलान्यपूर्वाणि रसादृभवन्ति क्षिणोति किन्त्वेष रसो न तेन।
आश्चर्यवच्छान्त रसादशान्तं बलं समुद्भूय विलीयतेऽस्मिन् ॥७३८॥
अथाणिमानो बहवः स्युरस्मिन् भूमन्यमुष्माद् बलतः प्रपन्नाः।
उदेति तत्रान्यबलं, रसेनाणिम्नाऽन्वयात् तत् सदिवाणुरूपम् ॥७३९॥
असद् बलं, किन्तु सतो रसस्य प्रयोगतः सत् प्रतिपद्यते तत्।
सतो बलस्य प्रतिपत्तुमर्हं, नास्ति स्वरूपं यदसृष्टमाद्यम् ॥७४०॥
बले सतीदं बलमेति सच्चेदाणिम्नि कुत्रापि यदैक्यमेति।
द्वयोर्बहूनामपि वैकभावात् संसृष्टमभ्वं तदुदेति रूपम् ॥७४१॥
भूताणु यत्रास्ति न तत्र बिन्दौ, भूताणु किञ्चित् प्रविशेत् कदाचित्।
बलानि भूयांस्यपि किन्तु सत्रा संसर्गमायान्ति तदेकबिन्दौ ॥७४२॥

संसर्गभेदा अपि सन्त्यनेके भेदो बहुत्वं च कुतोऽप्युपैति ।
यदैक्यमायान्ति बलानि तत्र द्वयोर्निपातेन भवेत् तदभ्वम् ॥७४३॥
तात्कालिकं भूरिबलाभिमर्द्दजं लोकत्रयातीतमदोऽभ्वमत्र यत् ।
न दृश्यते यद्,भृशमत्र दृश्यते, न दृश्यते क्वापि, तदस्त्यलौकिकम् ॥७४४॥
स तित्तिरिः प्राह स याज्ञवल्क्यो यन्नाम यत्कर्म च यच्च रूपम् ।
त्रयं तदभ्वं तदिदं त्रिलोक्या, वाह्यादुपैत्यत्र परात्मसृष्टम् ॥७४५॥
(तै० ब्रा० कां०, २ अ० ७ अ)

रसं च भूयांसि बलानि सत्रा गृह्णाति यत् पश्यति कश्चिदर्थम् ।
रसात् तदेकत्वमुदेति, तस्मिन्, बलस्वभावात् परिवर्त्तनानि ॥७४६॥
बलान्विताः केऽपि रसास्त्रयो मिथः संघ्नन्ति [१]संवृण्वत एषु केचन ।
[२]विकुर्वते केऽपि रसारसान्तरैः संयुज्य केचित्त्वमृता इह स्थिताः ॥७४७॥

अक्षरादि-साधारण-धातुत्रयलक्षणानि ।

समृद्धरूपं त्रिविधं प्रदिष्टं मनोबलं वागिति चिन्मनस्तत् ।
शक्तिर्बलं तत्प्रततिस्तु सत्ता वागस्ति बीजं जगतो विकुर्वत् ॥७४८॥
मनोऽस्ति निर्लेपमसङ्गमक्रियं तथानवच्छिन्नमिदं दिगादिभिः ।
पृक्तस्वरूपप्रवणं विकस्वरं सूक्ष्मान्वितावस्थजगच्च कामवत् ॥७४९॥
प्राणः क्रियावांश्च विधारकोऽर्थवानासञ्जनो बद्धमना विसृत्वरः ।
मनो नियुक्तोऽस्वपनोबलाभिधो गतव्यथः संक्रमणश्चराचरः ॥७५०॥
वाक्स्थानरोधप्रसरा विकारिणी प्राणग्रहोत्सर्गपरा च नाभियुक् ।
मूर्त्ता च वैशेषिकधर्मशालिनी पृथुत्वभाक् सायतना दिगुन्मिता ॥७५१॥

इच्छा-विधरण-मात्रिकताः—वस्तुगतधर्माः ।

लक्ष्माशनाया मनसो यदर्थेष्वाकर्षणं सर्वगतं प्रतीमः ।
सैवाशनाया तत् एव विघ्नो जडेऽपि तच्चेतनवन्मनोऽस्ति ॥७५२॥
प्राणे विधर्ता घनमस्ति वस्तु यत् खेऽल्पेऽधिका वागुपतिष्ठतेऽन्विता ।
संकोचनं प्राणकृतं ततो धृता वाक् सान्द्रतामेति तदस्य लक्षणम् ॥७५३॥
वाच्यैव भारो न परत्र दृश्यते न तद्बले नो मनसीति नात्मनि ।
भूतेऽस्ति भारो न तु दैवते क्वचित् भारोऽस्ति देवेष्वपि भूतयोगतः ॥७५४॥

वाचो न धर्मोऽस्त्यथवा स भारः पृथ्व्यास्तदाकर्षणमस्ति वाचि ।
पृथ्वीमनोवाक्परमाणुगं तत् वाच्येव संक्राम्यति नो मनोऽब्वोः ॥७५५॥
भिन्नं गुरुत्वं च लघुत्वमाहुः, किन्तूभयं तन्मन एकमेव ।
पृथ्व्या अणुष्वस्ति मनः पृथिव्या अग्नेरणुष्वस्ति मनोदिवस्तत् ॥७५६॥
वागेव पृथ्व्यग्न्युभयी तथापि वा तयोरणुष्वस्ति मनोऽव्ययं ह्यणोः ।
पृथ्वी मनः पृथ्व्यणुगे मनस्यदो दिवो मनस्त्वग्न्यणुगे निचीयते ॥७५७॥
पृथ्वी रसो वस्तु गुरुत्वमस्मादेकस्य मेरौ विषुवे च भारः ।
प्रभिद्यते तद्रसभेदहेतोर्वाग्धर्मतायां समताऽभविष्यत् ॥७५८॥
भारं तु वाग्धर्ममुपेत्य तस्योत्कर्षापकर्षौ विषुवे च मेरौ ।
हेत्वन्तराच्चेत् तदपेक्षया भूमनोऽत्र वाचीत्यवकल्पतेऽर्थः ॥७५९॥
वाचस्तु धर्मः परमाणुमात्रता पृथ्व्यम्बुतेजोऽनिलवाक्षुदर्शनात् ।
तेषामणूनां घनता विसारितानुकूलसंयोगसहत्त्वमिष्यते ॥७६०॥
नैसर्गिकी वाचि सखण्डता स्थिता मनस्यखण्डत्वमसीमता स्वतः
बलानुसारान्मनसः सखण्डता बलस्याखण्डोऽणुमितो महानपि ॥७६१॥
वाचोऽणवश्चोन्मिलिता अथापि ते सखण्डखण्डाः सह सन्ति धारिताः ।
बलस्य खण्डा बहवो विमिश्रिता यान्त्येकतां तावदखण्डतामपि ॥७६२॥

अन्नान्नादावपनानि जीवनहेतुधर्माः ।

यत्सृज्यते तत् त्रिकमेव साकं ह्यन्नादमस्यावपनं तदन्नम् ।
न क्षीयतेऽन्नं न निरन्नमन्नात् स्यात् तद्द्वयं चावपनप्रतिष्ठम् ॥७६३॥
मनोभवेदावपनं वियत्तत् प्राणस्तथान्नाद इति प्रसिद्धः ।
वागन्नमित्थं त्रितयं प्रतीयात् प्राणोऽन्नमश्नाति परस्य वाचम् ॥७६४॥

इच्छा-तपः—श्रमाः—सृष्टिहेतुधर्माः ।

इच्छा तु वृत्तिर्मनसस्तपस्तु प्राणस्य वाचः श्रम इत्यवेयात् ।
इच्छन् हि तप्येत स तप्यमानः श्राम्यत्यतः सिद्ध्यति कर्म तस्य ॥७६५॥
बल्ल्यल्पसारा स्वयमुत्क्रमा क्षमा द्रुमं समीपस्थमभिप्रसर्पति ।
उत्तिष्ठतीमं प्रतिवेष्टयन्त्यतः कामस्तपः श्रान्तिरिहापि तर्क्यते ॥७६६॥

यदान्तरं कर्म यमाह यत्नं दक्षं यमाहाध्यवसायमाह ।
तपस्तदुक्तं श्रमशब्दतस्तु चेष्टां क्रतुं च व्यवसायमाह ॥७६७॥
यत् स्वं ददातीति तपः प्रविद्यादित्थं श्रुतिः प्राह न तद्विरोधः ।
तप्यन्निजं प्राणमिह स्वकाम्ये लक्ष्ये क्षिपत्यस्य ततोऽर्थलाभः ॥७६८॥

वेदयज्ञप्रजाः प्रजापतिमहिमानः

यज्ञाश्च वेदाश्च पशुप्रजाश्च त्रिभिस्त्रिभिस्तैरतिशायकैस्तु ।
भूमिर्विभिन्ना तु भवत्यमीषां प्राणो मनो वागिति च क्रमेण ॥७६९॥

विश्वसृजो देवपिण्डा भूतपिण्डाश्च ।

सोमोऽयमासीन्मनसोऽयमग्निः प्राणादथापो बभुरत्र वाचः ।
सोमादभूच्चन्द्रमसस्तु पिण्डः सूर्योऽयमग्नेः पृथिवीयमद्भ्यः ॥७७०॥

त्रैधातवीयदिग्दर्शनानि ।

ज्ञानक्रियार्थास्त्रयमेतदिच्छा विक्षेप एवावरणं त्रयं यत् ।
कामस्तपःश्रान्तिरिति त्रयं यद् विद्याप्यविद्यापि च कर्म यच्च ॥७७१॥
सत्त्वं रजो वापि तमस्त्रयं यद् ब्रह्माथ च क्षत्रविशौ त्रयं यत् ।
यदुक्थमर्कोऽशितयस्त्रयं वा प्राणो मनो वागिति मूलमेषाम् ॥७७२॥
जगत्सु यत्किञ्चिदिवास्ति सर्वं त्रिधा विभक्तं प्रतिपद्यते हि ।
ज्ञानानुषक्तं च बलानुषक्तं द्रव्यानुषक्तं तदतः प्रतीयात् ॥७७३॥
न स्याच्छरीरं यदि वा न तस्मिन् बलं न विज्ञानमिदं यदि स्यात् ।
एकव्यपाये त्रितयं व्यपेयादेभिस्त्रिभिः सिद्ध इहैक आत्मा ॥७७४॥

सदसद्वादस्य शुक्लत्रिसत्यस्यार्थनिरुक्तिः ।

तत् सद् गृहीतं बहिरिन्द्रियेण यद्दिग्देशकालैः प्रमितं च यद् भवेत् ।
एतद्विरुद्धं त्वसदिष्यते यदि द्वैधं क्वचित् स्यात् सदसत् तदुच्यते ॥७७५॥
प्राणोऽसदुक्तः, सदसन्मनस्तद्, वाचं सदित्याहुरिमाश्च संज्ञाः ।
प्राणश्च वाक् चेति मनः स्वरूपं, तद्विभिन्नमस्तीव न वेव सौक्ष्म्यात् ॥७७६॥
मनो हि मूलं जगतो, मनस्तः प्रोद्भूय तस्मिन् प्रतितिष्ठतीदम् ।
मनोमयं सर्वमिदं जगद्यत् ततोऽखिलं तत् सदसद्वदामः ॥७७७॥

प्राणेन वाचा कृतरूपमस्तीत्यतः समस्तं सदसत्स्वरूपम् ।
विनाश्यसत्त्वादविनाशि सत्त्वाद् विज्ञानमेतत् सदसत् ततोऽस्ति ॥७७८॥
सत्यानि तु त्रीणि वदन्ति तानि त्रयं यदाऽन्वेति तदास्ति बुद्धिः ।
सत्यस्य सत्यं मन आहुरेतत् प्राणा हि सत्यं तदतोऽपि सत्यम् ॥७७९॥
(बृ० आ० २ अ १ ब्रा०)

॥ इति पुरुषधातुत्रयलक्षणानि ॥

अन्योन्याश्रयदोषपरिहारः

यस्तावदुक्तं त्रयमेक आत्मा सोऽणोरणीयान् महतो महीयान् ।
मनोऽस्ति तावद् बृहदल्पकं वा प्राणश्च वाक् चास्य तथा ध्रुवं स्तः॥७८०॥
मनस्त्रिधास्ति प्रभवः प्रतिष्ठापरायणं प्राणनिधेर्मनस्तः ।
प्राणः समुत्थाय मनोऽनुसारात् कर्माणि कृत्वेह लयं गताः स्युः ॥७८१॥
मनस्तदाकाशमिवास्ति तस्मिन् प्राणः समन्तात् प्रचरन्ति कामभ् ।
प्राणो बलं तच्च मनोऽनुसारादेवोदितं व्याकुरुतेऽत्र वाचम् ॥७८२॥
यावन्मनः प्राण इहास्ति तावानित्यर्थवादे विवदन्ति केचित् ।
प्राणान्मितिः स्यान्मनसो, मिते वा मनस्ययं प्राण उदेति मित्यां ॥७८३॥
दिग्देशकालप्रमितं मनस्तत्, प्राणान्मितं स्यात्, प्रमिते तु तस्मिन् ।
मनस्युदेत्य प्रचरेत् प्रमाणात् प्राणस्तदन्योन्यकृतास्त्यसिद्धिः ॥७८४॥
नास्मिन् विवादोऽस्त्यथवा बलं तद्रसं व्यवच्छिद्य मनः करोति ।
मिते मनो व्योम्नि समुत्थितोऽर्कः प्राणोऽशितिं स्वामयमत्ति तावान् ॥७८५॥
दिग्देशकालाप्रमितं मनस्तन्न प्राणतोऽप्यप्रमितं तु मन्ये ।
महामनाः क्षुद्रमना इतीत्थं मनोमितिर्भाति बलप्रमाणात् ॥७८६॥

बलनानाविध्यात् सर्वदोषपरिहारः

बलं रसेऽस्मिन् विनियुज्यते द्विधा प्रवर्त्तकं नाम निवर्तकं तथा ।
प्रवर्त्तकात् सर्वबलं प्रवर्तते निवर्तते तच्च बलं निवर्तकात् ॥७८७॥
बलं त्रिधा तत्र रसे प्रवर्तते किञ्चिद्वयोनाधबलं वयोबलम् ।
बलं तथार्कस्त्रिभिरेभिरन्वहं रसो भवेदेकविधः पृथग्विधः ॥७८८॥

तिलस्य शाल्याश्च यवस्य याऽऽकृतिस्तद्वै वयोनाधबलं तदुज्झ्यते ।
अपेक्ष्यते भूतरसो वयो हि तद्योऽर्कः प्रभावोऽर्थगुणः स मुख्यवत् ॥७८९॥
अर्कं त्वपेक्ष्यैव वयोऽत्र भुज्यते तदर्कभीत्यैव विषं निरस्यते ।
नार्थो वयोनाधबलेन, वस्तुनः स्वरूपविज्ञानकृते त्वपेक्ष्यते ॥७९०॥
असीम नित्यो लभते ससीमतां क्षुद्रा विशाला वृतिरस्त्यनेकधा ।
एतद्वयोनाधबलं रसे स्वतः प्रवर्तते छन्दनमस्ति तद्रसे ॥७९१॥
तच्छन्द आहुस्त्रिविधं बलं तद्धयेकत्वमेते न र ऽस्ति मात्रा ।
ततोऽव्ययं स्यादथ चाव्ययानां स्यादक्षरच्छन्दसि भेदसिद्धिः ॥७९२॥
त्रिभिस्त्वमीभिः पुरुषैर्विभिन्नैः स्युर्विग्रहा भिन्नतया गृहीताः ।
तदक्षरच्छन्द इतः समाने जीवेऽव्यये स्युर्बहवः प्रभेदाः ॥७९३॥
परं गणच्छन्द इतस्तु विग्रहैः कीटादिभिर्भिन्नविधैः शरीरगैः ।
मनुष्यदेहा बहुधा विचित्रिताः इत्थं वयोनाधबलं त्रिधोदितम् ॥७९४॥
प्रच्छन्दिते तत्र रसे प्रविश्य तं रसं विचित्रं विदधाति तद्बलम् ।
उपोम्भनं हूर्च्छनमस्ति कश्मली कृदे तदित्थं त्रिविधं वयोबलम् ॥७९५॥
उपोम्भनं तद्यदि भुज्यते बलं रसेन स ज्ञानमयो बली रसः ।
हूर्च्छाबलेन त्वयमद्यते रसः प्राणः स एतद्धि बलं रसोदरम् ॥७९६॥
यत्कश्मलीकृद्बलमात्रमिश्रितं रसोबलं तेन परस्परान्वयात् ।
एकीभवद् वागिति नाम जायते पुनस्त्रयं भिन्नविधं सहस्रधा ॥७९७॥
वयो वयोनाध इदं बलद्वयं रसे भवत् संवरणं निरुच्यते ।
निवर्तकान्यर्कविधानि तानि वा विवृण्वतोऽर्कस्त्वशितुं प्रवर्तते ॥७९८॥
अर्को द्विधा साम[1]यिकश्च नित्यो[2] नित्यस्तु वेदो घृणिसंघवत् स्यात् ।
उत्तिष्ठते सामयिकः कदाचिद् भुक्त्वाऽशितिन्तत्र विलीयते सः ॥७९९॥
कामस्तृतीयोऽर्क उदेति कर्मणा स कर्मजन्योऽतिशयोऽस्त्यपेक्षितः ।
यदिच्छया कर्मकृतं ततोऽभवत् प्रज्ञात्मकोशे विकृतः स एव सः ॥८००॥
इच्छा मनस्तः समुदेति तत्कृतं हीच्छानुरूपं बलमत्र सज्जते ।
प्रज्ञाख्यभूतात्मनि काम एष सः क्षिणोति काले सुखदुःखभोगतः ॥८०१॥
सांस्कारिकं त्वन्यदनात्मिकं बलं सांक्रामिकं च प्लवतेऽन्यनोदनात् ।
मलाप[1]कर्षोऽतिश[2]याहितिस्तथा हीनाङ्गसंधानमिति त्रिधाऽऽदिमम् ॥८०२॥

संक्षोभणं चात्मबलापकर्षणं निपीतमित्थं त्रिविधं परं बलम् ।
क्षीरेऽग्नितापोत्प्लवनं शरे गति,र्यच्चूर्णनं, पेषणमश्मनोदनम् ॥८०३॥
अर्कप्रभेदाद्दशितिश्चतुर्विधा, पराणुवाग् नाभिगता तु याऽशितिः ।
विस्रस्यते यज्ञत एति चाहुतिस्तत्रेति सा पूर्ववदेव पूर्य्यते ॥८०४॥

या नाभिविस्रस्तरसान्मनोऽम्बरे वेवेष्टि वाग् वेदमयी तु साऽशितिः ।
परावतः प्रेत्य परा हि सोमतां गत्वाधिनाभ्यग्नि पुनः स हूयते ॥८०५॥
इमे तु नित्ये अशिती अथापरा तात्कालिकी सामयिकार्कगाऽशितिः ।
प्रेप्सा-दिदृक्षाऽम्बुतृषा-क्षुधादिका साऽर्कं गताऽर्कं प्रशमय्य शाम्यति ॥८०६॥

कामाशये त्वात्मनि कामतो या सुखादिलब्धिः खलु सैव भुक्तिः ।
भोगेन कामातिशया विनाशं गच्छन्ति ते तत्परिवर्तिताः स्युः ॥८०७॥
य इत्थमश्नात्यशितिं तमर्कं प्राहुर्बलं, तैस्त्रिभिरेभिरश्यैः ।
बले रसोऽयं विधृतो विनीतो नानारसानर्ध च यान् विधत्ते ॥८०८॥

इत्थं बलानां बहुधा विभेदतोऽन्योन्याश्रयो दोष उदेति नेह सः ।
मनो वयोनाधबलेन संवृतं, प्राणोऽर्क एतन्मनसा विमीयते ॥८०९॥

इति बलप्रभेदात् सर्वविधदोषपरिहारः

पुरुषाणां विग्रहाणां च प्रजापतित्वम् ।

इत्थं बलं मृत्युरुदेति यद्रसे त्रेधा वयोनाधवयोऽर्कभेदतः ।
मनश्च वाक् प्राण इति त्रिधा ततो रूपणि संभूय बभुः परात्परे ॥८१०॥
एभिस्तु वाक्प्राणमनोभिराद्यैः सत्यैस्त्रिधातुः पुरुषो य आसीत् ।
तद्धातुभिस्तैस्त्रिभिरुद्भवन्तो वेदाश्च यज्ञाश्च पशुप्रजाःस्युः ॥८११॥

वेदैश्च यज्ञैश्च प्रशुप्रजाभिः स पूरुषो यः परिमण्डितोऽभूत् ।
प्रजापतिं तं ब्रुवते त्रिवीर्य्यं स एष आत्मा ससृजे प्रजाः सः ॥८१२॥
यदाहुरेके क्रमसृष्टिमेषां प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् ।
सृष्ट्वा मनोऽसौ मन एव चासीत् सृष्ट्वा तु वाचं स हि वाग् बभूव ॥८१३॥

न युक्तमेतन्न कदाचिदेषामेकैककमन्येन विना कृतं स्यात् ।
प्रजापतिर्य्यत्र मनः स वाग् वा त्रिधातुरेवायमयं च सर्वः ॥८१४॥

प्रजापतिः कश्चिदसीम आस्ते प्रजापतीनां सहयोनिरेकः ।
प्रजापतीनां पुनरेक एकः प्रजापतीनां भवतीह योनिः ॥८१५॥
प्रजापतिः स त्रिविधोऽव्ययो वाऽक्षरः क्षरो वा त्रिभिरेभिरेकः ।
जीवः स ईशः परमेश्वरो वा प्रजापतीनामियती विभूतिः ॥८१६॥

प्रजापतिस्त्वव्यय एव तं चान्वेवाक्षरोऽपि क्षरपूरुषोऽपि ।
प्रजापतिः प्राक् परमेश्वरोऽसावन्वेतमीशोऽनु च तं स जीवः ॥८१७॥
तत्रैक एवास्ति परमेश्वरोऽसावीशाश्च जीवाश्च भवन्त्यसंख्याः ।
ये च क्षरा ये पुनरक्षरा वा ये वाऽव्ययास्ते च भवन्त्यसंख्याः ॥८१८॥

प्रजापति-महिमा ।

प्रजापतिः स द्विविधो निरुक्तानिरुक्तभेदादनिरुक्त आद्यः ।
अलक्षणः सोऽस्तिनिरुक्ततत्वामन्तः प्रविष्टः स हि नाभिगम्यः ॥८१९॥
दिग्देशकालप्रमितिः स्वरूपप्रकारसंख्यानुगतिर्निरुक्तिः ।
नभ्यो निरुक्तो न हि नाभितोऽयं प्रमीयते किन्त्विह भाव्यते सः ॥८२०॥

निरुक्त आत्मास्ति स वेदयज्ञप्रजापशुभ्यः प्रतिपद्यतेऽद्धा ।
वेदादयस्तन्महिमान आद्यं द्वयं वपुस्तस्य परं तु वित्तम् ॥८२१॥
प्रजापतिर्योऽव्ययजातिको वा यो वाऽक्षरो यः क्षरजातिको वा ।
आत्मद्वयं तेषु तथा महिम्नां चतुष्टयं चास्ति समानमित्थम् ॥८२२॥

यादृक्षजातीय उदैत् प्रजापतिस्तज्जातिका एव भवन्ति तत्र ते ।
वेदादयस्तन्महिमान इत्यतः प्रतिप्रजापत्युपपत्तयः पृथक् ॥८२३॥
वेदोऽव्ययो यज्ञ इहाव्ययोऽन्यः प्रजाश्च तद्वत् पशवोऽव्ययाश्चेत् ।
तैरव्ययैर्यो निचितोऽव्ययात्मा, प्रजापतिः सोऽव्ययज्ञातिकोऽस्ति ॥८२४॥

तथाक्षराणामिह वेद-यज्ञ-प्रजा-पशूनां निचितो य आत्मा ।
प्रजापतिः सोऽक्षर जातिकोऽन्यः क्षरैः क्षरः सोऽन्य इति प्रतीयात् ॥८२५॥

प्रजापतेर्वेदरूपत्वम् ।

मनोऽव्ययं पञ्चरसं यदस्ति. चिद् गर्भे, स आत्मा, वपुरस्य वाङ्मयी ।
या चेतना पञ्चरसाचितः स्रुताः वेदः स तं वेद्मि बहिः परं वपुः ॥८२६॥

(पृष्ठ० ७९) वैषम्य ।२। साम्ना मृ० ।३। प्राण हि ।४।
चिद् ब्रह्म तद्बृंहणमेव वेदो ब्रह्मैव वेदानमितस्तनोति ।
वेदस्त्रयीयं मन एष वेदः प्राणश्च वेदः सह वाक् च वेदः ॥८२७॥
यावान ।६। अस्तीति ।७। यन्नास्ति । ८ प्रजापतेः । ९ ।
ज्ञानं हि संयानमितो मनश्चानन्दश्च संभूय तते द्विधास्तः ।
आनन्दविज्ञानमयं मनश्चित् तच्चेतनाऽन्तश्च तथाऽनिरुक्तता ॥८२८॥
प्राणोऽपि संयान इतस्तु संहिते अन्तर्बहिर्वाङ् मनसे द्विधा तते ।
मूर्तिस्ततस्तैर्निचितास्ति मध्यतो मूर्त्तेर्बहिर्धा परिमण्डलं ततम् ॥८२९॥
साहस्र्यसौ वागणुमात्रिकीत्यतस्तादृक् सहस्राणुमिताम्बरेऽभितः ।
प्राणः परिक्रामति तन्मनोऽम्बरं यतो मितं तेन च वागसू मितौ ॥८३०॥
सहस्रभूताणुभिरुत्तरोत्तरक्रमान्वितैर्यन्मितमम्बरं ततः ।
व्यासार्धतो वृत्तमुदेति वर्त्तुलं पराणुवाक्प्राणमनोऽभि तद्बलम् ॥८३१॥
तावन्मनः प्राणचयेऽपि वाग्लवा आशेरते ह्रस्वपराः सहस्रधा ।
वेदः स एवं कृतरूपवागणुस्त्रय्यां हि भूतान्यखिलानि पश्यति ॥८३२॥
नाभिस्थवाग् व्यस्रसदस्य सर्वा दिशो रसोव्यक्षरदेष वेदः ।
विस्रस्तवाक्स्थानमिदं तु वेदाद् वाच्याहुतायां पुनरस्ति पूर्णम् ॥८३३॥
नाभौ तु यो वागणुरस्ति तस्मिन् भारोऽस्ति स स्थानविरोधकोऽस्ति ।
संवत्सरे ये त्वणवस्तताः स्यु र्न तत्र भारो न विरोधिता वा ॥८३४॥
नाभौ तु या मूर्त्तिरियं वितन्यते रसाद्बलं यावदिदं न हीयते ।
बलेऽत्र चोत्सीदति मूर्त्तिकृत्ययं मूर्तिप्रतानोऽपि समाप्यतेऽभितः ॥८३५॥
उक्था मदो मूर्तिपरम्परेयमृक् पृष्ठया स्थिता ह्रस्वपरा परान्तगा ।
पृष्ठांशसाम्याद् विततिः परे परे पृष्ठे तिरः साम समानरूपतः ॥८३६॥
ऋङ् मूर्तयः सामजमूर्त्तयोऽपि वाऽऽरभ्यन्त एता यत, उत्तरोत्तरम् ।
तदेति सीमान्तमुपेत्य तत्पुनर्नाभौ समायाति यजुस्तदुच्यते ॥८३७॥
रसो यजुश्छन्दऋगस्ति साम प्राहुर्वितानं प्रथतेऽव्ययेऽस्मिन् ।
वेदत्रयीयं प्रथमा विशुद्धा, प्रत्येकजन्या, पुनरक्षरेऽन्या ॥८३८॥
छन्दस्य वेदानृच आहुरेवं वितानवेदान् प्रवदन्ति सामः ।
यजुस्तु सर्वो रसवेद इत्थं वेदेषु वेदास्त इमेऽक्षराः स्युः ॥८३९॥

*(पृष्ठ ७१) सर्वेऽपि य ।१३। एकैक व ।१४। स एष सं ।१५। एकं क्व ।१६। (पृष्ठ ७२) चान्द्रं ।१७। दृष्टि र्नृ ।१८। चान्द्रस्य ।१९। पादोन ।२०। ऊर्ध्वं ।२१। इत्थं ।२२। दिवं ।२३। (पृष्ठ० ७३) छन्दां ।१। ये पौ ।२। वेदान् ।३। ये प्रा० ।४।

नाभिस्थवाक्प्राणमनांसि सूर्य्यकं, संवत्सरस्तत्परिवेष उच्यते ।
अहर्विभक्तिस्तु कृताऽभिमुख्यतोऽथाह्वां व्यवच्छेदकृतः परिश्रितः ॥८४०॥

क्षेत्रं य ।२। मन्त्रो ।३। स्तोमाः स्युः ।४।

एषोऽव्यो वेदमयोऽणुवत्तृप्तोऽस्त्यात्मा ततः स्कन्धमयोऽव्योऽन्यः ।
प्रत्यव्ययं प्राणमयं मनः खं प्राणे ततो वाच इमास्तु वेदाः ॥८४१॥

निर्लिप्त एवाव्यय एष तत्राक्षरः स सृष्टिं कुरुते क्षराणाम् ।
वेदोऽक्षरे वेदमयः क्षरोऽन्यो यो विग्रहस्तत्र च वेद एषः ॥८४२॥

देवेषु भूतेष्वखिलाणुरूपाः प्रजा इमा वेदत एव सिद्धाः ।
भवन्ति वेदा हितवागणूनां योगादिह स्कन्धविशेषसिद्धिः ॥८४३॥

ये सन्ति कुत्राण्यणवोऽथवा ये स्कन्धा इमे क्षुद्रबृहत्प्रमाणाः ।
ते विग्रहा एव भवत्यमीषां मूलं तदेवाव्ययमेकमेकम् ॥८४४॥

सर्वत्र मुख्योऽव्यय एव भावः स यत्र तत्रैव तथाक्षराद्या ।
न्यस्ता भवन्ति, त्रिभिरव्ययाद्यैर्यो विग्रहः सिध्यति सोऽस्ति योऽस्ति ॥८४५॥

प्रजापतेर्यज्ञरूपत्वम् ।

पृ० ७४ चित्तस्य वा—

वागित्थमत्रास्ति महिम्नि चेतना वेदः स नम्याद् विततश्चतुर्दिशम् ।
वेदात्तु यज्ञो भवति प्रजापतिर्य्यः प्रागभूत् सोऽव्ययपूरुषो मतः ॥८४६॥

---

* पृष्ठ ७१ से पृ० ७४ तकके जो श्लोकोंके आदिके कुछ अक्षर लिखकर इस 'प्रजापतेर्वेदरूपत्वम्' शीर्षक लेखमें करीब २२ श्लोकों और आगेके 'प्रजापतेर्यज्ञरूपत्वम्' शीर्षक लेखमें पृ० ७४ का एक श्लोक का संकेत है, सो ये श्लोक कहीं प्राप्त नहीं हुए । अतः अभी ज्योंका त्यों रख दिया है । आगे कभी मिल जाने पर द्वितीयावृत्तिमें अथवा जो पुस्तकें हमारे यहाँ तब तक रह जावेंगी, उनमें दे देवेंगे—(उपरि लिखित पृष्ठ संख्या का आशय हस्तलिखितपुस्तक से है ।) सम्पादक ।

चित्यस्ति वाक्प्राणमनांसि तद्वन्महिम्नि वाक्प्राणमनांसि रूपम् ।
उक्थं मनो, वागशिति,स्तथाऽर्कः प्राणोऽस्ति चिच्चेतनयोः समानम् ॥८४७॥

किन्तु स्वभावादशितिः प्रजापतेरन्यस्य वागस्ति, निजा न भुज्यते ।
प्रजापतिर्य्यत्र परो न लभ्यते तत्रात्मनो वाचमदन् विनश्यति ॥८४८॥

चितो मनोऽर्कस्तु महिम्नि वाचं, चिद्वाचमश्नाति महिम्नि योऽर्कः ।
चिच्चेतना चेत्युभयीयमाद्या चात्री च संयौति परस्परेण ॥८४९॥

उक्थे प्रभिन्नेऽर्क उदेति भिन्नो नभ्यं च सर्वं भवति द्विधोक्थम् ।
नाभौ हितं स्यादशितेस्तु नभ्यं सर्वस्य नाभौ त्वशितिर्हिता स्यात् ॥८५०॥

सर्वोक्थमाकाशविधं मनस्तत् प्राणोऽस्ति साहस्र इहोदितोऽर्कः ।
तस्याशितिर्वागिह नाभिमूर्तिर्मनः प्रतिष्ठाऽत्र च मध्यतो वाक् ॥८५१॥

नभ्योक्थमध्यक्षविधं मनस्तन्नाभौ यजुः प्राण इहोदितोऽर्कः ।
ऋक्सामवागस्त्यशितिर्विकीर्णा सा वाक् प्रतिष्ठाऽत्र मनोऽस्ति मध्यो॥८५२॥

मनोमयव्योमनि मापकं बलं नाभिस्थवाग्मूर्त्तिरसंभुनक्ति हि ।
उक्थं मनो नाभिगतं, तदुत्थितो योऽर्कः स वाग्मूर्त्तिसहस्रभृत् ततः॥८५३॥

पृष्ठ० ७४ । प्राण इ० ।
इत्थं च वाचो मनसो य उत्तरोत्तरि क्रमो यज्ञमिमं विदुः श्रुतौ ।
यज्ञेन वेदः प्रततोऽथ वेदतो यज्ञः स एष प्रथमोऽव्ययो मतः ॥८५४॥

प्रजा-पशवो वित्तानि—

क्षराक्षराः सन्ति तदव्ययस्य प्रजास्तमेवानुगता अजस्रम् ।
क्षराक्षराणां महिमान एवाव्ययस्य तन्त्रे पशुतां गताः स्युः ॥८५५॥

यथाऽव्यये सन्ति हि पारमेश्वरे क्षराक्षराः केचिदनन्यतन्त्रगाः ।
प्रजा हि तास्तन्महिमा पशुस्तदारब्धं हि माहेश्वरतन्त्रमग्रियम् ॥८५६॥

यद्यव्ययं व्याकृतकोऽपि नानाविधोऽयमन्वेत्यपि सा प्रजा स्यात् ।
प्रजापतिं व्याकृतकं च योऽन्योऽन्वेत्यव्यये व्याकृतकः पशुः सः ॥८५७॥

यथाव्यये सन्ति हि पारमेश्वरे नानेश्वराः केचिदुपेश्वरा अपि ।
ताश्च प्रजास्ते पशवो महाव्ययेऽनारम्भकाः किन्त्विह सन्त्युपाहिताः ॥८५८॥

आत्मव्यपदेशः ।

आत्माऽनिरुक्तोऽस्ति समं च मूर्त्यां, वेदेन, यज्ञेन, पशुप्रजाभ्याम् ।
शुद्धस्य साङ्गस्य सहाखिलाङ्गस्यापीदमात्मत्वमपेक्षयाऽस्ति ॥८६२॥
प्रजापतिः खल्वयमात्मशब्दश्चतुर्विधोऽस्ति प्रथमोऽनिरुक्तः ।
त्रिपूरुषो व्याकृतको द्वितीयः स वेदयज्ञः स पशुप्रजश्च ॥८६३॥
स वेदयज्ञं प्रवदामि दिव्यं, पशुप्रजाभ्यां सहितं तु सर्वम् ।
वेदो वपुर्जीवनमस्य यज्ञः प्रजाः समृद्धिः पशुरस्य वित्तम् ॥८६४॥
त्रयः समानायतनाः सहस्था ये पूरुषास्तन्महिमान एते ।
यावत् क्रमन्ते स तृतीय आत्मा स्याद्विग्रहस्तैर्बहुभिश्चतुर्थः ॥८६५॥
महेश्वरो वेश्वर एष जीवः प्रजापतिः सर्व इति प्रतीयात् ।
जीवेष्वपि त्वीश्वर एष, तत्रापि भाग एवं परमेश्वरोऽस्ति ॥८६६॥
आभ्यन्तरा ये तु परे विशेषास्तेषां तदात्मत्वमपेक्षमाणः ।
प्रत्यर्थमीक्षन्त इहात्मसंघं नात्मातिरेकात् क्वचिदस्ति किञ्चित् ॥८६७॥

पुरुषत्रयोत्पत्तिक्रमः ।

क्षराः क्षरेषु प्रयुतः क्षराणां जायन्त एष्वक्षरयो गतश्च ।
अप्यक्षरेष्वक्षरयोगतः स्युः क्षरास्त्रिधेत्थं क्षरसृष्टिरस्ति ॥८६८॥
यत्राव्यया अव्ययतोऽनुषक्ता द्वैतं निवर्त्या धुरि हैकतां चेत् ।
तदक्षरं मैथुनसृष्टिरेषा तथाक्षरं स्यादवरं क्षरत्वात् ॥८६९॥
परे विदुर्मानससृष्टितः स्यात् तदव्ययादक्षरमिच्छयैव ।
वाचो विकारात् स्वत एव न त्वव्ययद्वियोगादिदमक्षरत्वम् ॥८७०॥
यद्धि द्वियोगाद् भवति द्वयोस्तयोर्वियोगतस्तत् क्षरतीति नाक्षरम् ।
द्वियोगजं स्यादपि चाव्ययं हि तन्निःसङ्गमन्येन न जातु सज्जते ॥८६८॥
अथाव्ययास्ते बलसंवृता रसाः स्वयंभुवो, नित्यरसे स्वयं बलम् ।
उद्भूय चोद्भूय तमव्ययं परं नानाविधं भावयते त्रिलोकगम् ॥८६९॥

पुरुषत्रयान्योन्ययोगायोगाः ।

विनाऽव्ययं वा न विनाक्षरं क्षरं विनाऽव्ययं नाक्षरमस्ति किञ्चन ।
द्विधाऽव्ययं त्वक्षरवन्निरक्षरं, द्विधाऽक्षरं च क्षरवच्च निःक्षरम् ॥८७०॥

शुद्धस्वरूपा बहवः स्युरव्ययाः स्युः साक्षराः सृष्टिकृतः परेऽव्ययाः ।
क्षराक्षराभ्यां सहिताश्च केचनाव्यया निरूढास्त्रिविधा इमे मताः ॥८७१॥
अनक्षरैः शुद्धतरैरिहाव्ययैर्युक्ताक्षरैः कैरपि सक्षराक्षरैः ।
आवाप्य चोद्वाप्य विचित्रलक्षणा जीवा भवन्तीरविग्रहेऽखिलाः ॥८७२॥

पुरुषत्रयोदाहरणानि ।

क्षराणि भूतानि च दैवतानि वेदाश्च यज्ञा ऋषयोऽक्षराः स्युः ।
छन्दो वितानो रस एवमाद्याः स्युरव्यया अव्ययमत्र पूर्णम् ॥८७३॥

इति श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते ब्रह्मविज्ञानशास्त्रे सदसद्वादे अव्ययप्रतिपत्तिलक्षणस्तृतीयः परिच्छेदः सम्पूर्णः ॥

अक्षरानुवाकः

प्रतिज्ञा

ब्रह्म द्विधा स्यादवरं परं तयोर्बलत्रयोपेतरसत्रयं परम् ।
क्षरत्रयोपेतमथाक्षरत्रयं ब्रह्मावरं ब्रह्मविदो विदुः पृथक् ॥१॥
द्विधा परब्रह्मतनूरसोऽमृतं ह्यूर्ध्वाऽथ मृत्युस्त्वधरा तनुर्यथा ।
तथावरब्रह्मतनुर्द्विधाऽमृतं ह्यूर्ध्वाऽथ मर्त्यं ह्यधरा तनुर्मता ॥२॥
रसे बलाढ्ये पुरुषोऽस्ति शब्दोऽक्षराणि हि त्रीणि रसा बलाढ्याः ।
क्षराण्यपि त्रीणि रसा बलाढ्यास्तस्मात् त्रयस्ते पुरुषाः पृथक् स्युः ॥३॥
सर्वाणि भूतानि तु पूरुषः क्षरः कूटस्थ एषोऽक्षरपूरुषो मतः ।
अत्येति यस्तु क्षरमक्षरादपि स्यादुत्तमो यः पुरुषोत्तमो हि सः ॥४॥
क्षेत्रज्ञनाम्नाऽक्षर उच्यतेऽयं क्षरं प्रधानं प्रतिपादयन्ति ।
क्षराक्षराभ्यामतिरिच्यते यः परं तमाहुः पुरुषोत्तमं च ॥५॥
तत्रोत्तमोऽसौ पुरुषः परः पुरा निरूपितः सम्प्रति सोऽव्ययोऽक्षरः ।
निरूप्यतेऽयं पुरुषं क्षरं जगत्समस्तमेतद् ह्यवलम्ब्य तिष्ठति ॥६॥

इति प्रतिज्ञा ।

सम्बन्ध-चर्चा

रसाद् बलाढ्यादतिरिच्य नेक्ष्यते किञ्चित् क्वचित् किन्तु तयोरनन्तयोः ।
सम्बन्धवैशेष्यवशात् पृथग्विधास्त्रयोऽप्यमी स्युः पुरुषाः प्रदर्शिताः ॥७॥
शश्वद्धि ते ब्रह्म च कर्म च द्वे, तयोश्च सम्बन्ध उदेति शश्वत् ।
द्वयं विशिष्टाद्द्वयमेतदेवं सम्बद्धरूपं ध्रियतेऽपि शश्वत् ॥८॥
स्वरूपसम्बन्ध इहोदितस्तयोर्बलस्वरूपेण रसोऽवभासते ।
रसस्वरूपेण बलं प्रवाहि तन्न चान्यतोऽन्यद् भवति क्वचित् पृथक् ॥९॥
तदन्तरं तत् परितो बहिर्धाऽऽहितं हि मृत्यावमृतं समन्तात् ।
वस्तेऽमृतं मृत्युरमुष्य मृत्योरात्माऽमृतं, न म्रियते ततस्तत् ॥१०॥

किन्त्वत्र वैचित्र्यमवेक्षते ततः स वै पुनर्विक्रियते चतुर्विधः ।
वृत्तित्व-योगौ च विभूतिबन्धने तेऽन्योऽन्यतः स्युः परिवर्तिता अपि ॥११॥
चतुर्विधैरप्यनयोस्तु सृष्टौ सम्बन्धभेदैः परिवर्तनं यत् ।
आकस्मिकं तन्न फलान्न कामात् स्वभाव एवात्र परं निदानम् ॥१२॥
यत्राश्रितस्याश्रयतोऽन्वयेन संसृज्य नापूर्वमुदेति किञ्चित् ।
यत्राश्रितं स्वाश्रयनैरपेक्ष्यात् प्रवर्तते कर्मसु वृत्तिता सा ॥१३॥
यत्र द्वयोरन्वितयोः स्वतन्त्रप्रवृत्तयोः कर्म्मणि साहचर्य्यात् ।
द्वियोगजं सृष्टमपूर्वमुद्यान्न चान्यतोऽन्यन्म्रियते स योगः ॥१४॥
यत्र द्वयोरन्वितयोरपूर्वं द्वियोगजं सृष्टमुदेति, किन्तु ।
अन्योन्यमन्योन्यहतं मृतं तत् पृथक् स्वतन्त्रं न भवेत् स बन्धः ॥१५॥
यत्र द्वयोरन्वितयोस्तु सर्गादेकं मृतं स्यादमृतं द्वितीयम् ।
स्वतन्त्रमेकं परतन्त्रमन्यच्चान्वेति नान्वेति, विभूतिरेषा ॥१६॥
यथा हि पथ्यस्य जनस्य गच्छतः पन्था निमित्तं ध्रुवमाश्रयत्वतः ।
न चैवमप्येष गतिस्वरूपगो वृत्तित्वमेवं तदुदाहरन्ति हि ॥१७॥
यथायमाकाशगतः समीरणो व्याप्नोति चाकाशमशेषदिक्ष्वपि ।
न वायुनाऽऽकाशमिदं विलिप्यते तथाऽखिलं स्याद्रसवृत्ति तद्बलम् ॥१८॥
प्राचीं प्रतीचीं च पृथक् पतत्रे पतत्रिणः सम्पततस्ततः स्यात् ।
गत्योर्द्वयोर्योगवशादुदीची गतिर्विभिन्ना समकोणसिद्धा ॥१९॥
यत्पाणिना पाणिरमुष्य धृष्यते, बलाद् दृढोऽश्मा प्रतिहन्यतेऽश्मना ।
विरुद्धशक्तिद्वययोगतस्ततस्तदाऽनलश्चक्रगतिर्विजायते ॥२०॥
यथाप्सु वायुः प्लवते स खण्डशो यदोदकैराव्रियते स बुद्बुदः ।
न चावृतिस्त्रुट्यति चेत् तदोभयं संसृज्य बद्धं भवदेति फेनताम् ॥२१॥
दुग्धं प्रतप्तं यदि शीतवायुनाऽभिभूयते वायुरयं नु बध्यते ।
दुग्धस्य वायोरपि बन्धनान्मिथः शरः समुद्भूय पृथग् विजायते ॥२२॥
अग्निः क्रमादुत्क्रमते रसान्नयन् वायुः क्रमादन्तरुपैति संदधत् ।
वायोः स्वयोग्ये हि रसेऽनुबन्धनादयं रसस्तत्र शरः प्रजायते ॥२३॥
यदिच्छतो यत्नवतः स्थिरः करः प्रोत्तिष्ठतीह प्रचरत्यनेकधा ।
प्राणस्य प्रज्ञानुचरस्य सा करे विभूतिरन्तर्निहता प्यलिप्तवत् ॥२४॥

उत्क्षिप्यते लोष्टमथो शरस्तयोर्यदाहितं स्याद्बलमन्तरान्तरे ।
शरो बलेऽसौ बलमस्ति तच्छरे विभूतिरेषा न शरेऽनुषज्जते ॥२५॥
न चेष्टका शुष्कमृदा भवेत् ततो जलात् करोतीह मृदं सुपेशलाम् ।
तयेष्टका सम्पदि शोष्यते जलं सूत्रात्मवायुर्विभवत्यथेष्टकाम् ॥२६॥
न लौहखण्डद्वितयं परस्परं संसृज्यते, तेन तदग्निना द्वयम् ।
सुपेशलं चेदपि सृज्यतेऽञ्जसा सूत्रात्मवायुर्विभवत्यनुष्म तत् ॥२७॥
गजाश्ववेश्माद्रिवनादयो यदा दृष्टौ स्मृतौ वा प्रतिभान्ति, तत्र हि ।
विज्ञानमेकं विभवत्यनुक्रमादमीषु भूयो महिमास्त्वनेकधा ॥२८॥
ब्रह्मेत्यदःप्रत्ययसाक्षिकं भवेदालम्बनं चायतनं च वृत्तितः ।
पात्रं तु योगाद्, रसदं तु बन्धनाद् विभूतितः स्यात्तु विवर्तिजृम्भनम् ॥२९॥
वृत्तित्वसंबन्धवशादशेषतो बलैर्बलीयः किल सर्वशक्तिमान् ।
न मीयतेऽसौ विभुरस्ति सर्वतः परात्परोऽनिर्वचनीय इष्यते ॥३०॥
न यत्र मात्रानियमस्तयोः स्यात् संबन्धसत्त्वेऽपि न तत्र सर्गः ।
असक्तमस्मिन्नमृतं हि मृत्यौ स्वतन्त्रमाभाति तथा स मृत्युः ॥३१॥
मितोमितेनाथ निरूढमात्रा याऽमृते न मृत्युः क्रमते यदा क्वचित् ।
तदाऽत्र सन्बन्धविशेष इष्यते स्वरूपसंज्ञस्त्रिविधः स उच्यते ॥३२॥
योगश्च बन्धश्च विभूतिरित्थं सम्बन्धभेदास्त्रय एतयोर्ये ।
त एव सर्गास्त्रिविधाः प्रसिद्धाः संसर्गनाशं तु वदन्ति मोक्षम् ॥३३॥
ब्रह्म प्रधानः स विभूतिसर्गः कर्मप्रधानः पुनरेष बन्धः ।
द्वयोस्तु साम्ये भवतीह योगो विश्वं त्रिसंसर्गवशात् प्रवृत्तम् ॥३४॥

इति सम्बन्धचर्चा ।

प्रथमा सृष्टिः

एभिस्त्रिभिर्योगविभूतिबन्धैः संसृष्टयोर्ब्रह्मणि कर्मणां याः ।
ता सृष्टयो या प्रथमा अभूवन् नित्यानि वाक्प्राणमनांसि तानि ॥३५॥
नित्यं यतो यस्तिस्र इमाः प्रसिद्धाः पृथक् तु वाक्प्राणमनोऽभिधानाः ।
तेनाद्य वाक्प्राणमनांसि नित्यान्येष्वन्यसर्गा विलयं प्रयान्ति ॥३६॥
त्रयोऽप्यमी योग-विभूति-बन्धाः सग्रन्थिका ग्रन्थिकभेदतः स्युः ।
द्विधा, ततः सृष्टिरपि द्विधैषां रजांसि चान्यानि परो रजांसि ॥३७॥

संसर्गभेदात् त्रय एव सर्गाः मनो विभूतिक्रमतः प्रवृत्तम् ।
बन्धक्रमेण प्रभवेदियं वाक् प्राणस्तु योगक्रमजो निरुक्तः ॥३८॥
सच्चामृतं, यच्च तु मृत्युरूपं, सत्यं ततः स्यादपि सृष्टमाभ्याम् ।
यतोऽमृतं मृत्युयुतं ततस्तन्मर्त्यं च, तत् स्यादुभयत्र तुल्यम् ॥३९॥
तथापि लोके व्यवहारहेतोर्नित्यानि सत्यानि सतो विशेषात् ।
मर्त्यान्यनित्यानि, यतोऽत्र मृत्युः पुनः पुनः संप्लवते विशेषात् ॥४०॥

इति प्रथमा सृष्टिः

अक्षरम्

रजांसि वाक्प्राणमनांसि यानि क्षराणि वक्ष्यामि तु तानि पश्चात् ।
परो रजांसीह तु यानि तान्यक्षराणि संप्रत्यनुभावयामि ॥४१॥
रजः स्वरूपच्यवनेऽपि न च्युतिं कदाचिदायाति यतः परोरजाः ।
विपर्य्ययं नैति कदाप्यलक्षितः स एकवत् तिष्ठति तेन सोऽक्षरः ॥४२॥
रसो बलाढ्यः पुरुषोत्तमः परं, क्षराण्यथो सत्प्रकृतीनि चापरम् ।
यदन्तरा ब्रह्मपरं तथाऽवरं तदक्षरं स्यात् त्रिविधं परावम् ॥४३॥
यद्वाऽक्षराणि त्रिविधान्यमूनि द्वेधा पराण्यप्यपराणि चेति ।
स्वतन्त्ररूपाणि पुराणि तानि क्षरेषु दृष्टान्यपराणि तानि ॥४४॥
क्षरेषु कर्माणि विजानि तत्राक्षरस्य कर्माण्यपि सञ्चितानि
सन्त्यक्षरे यद्वदुपस्थितानि परस्य कर्माणि निगूहितानि ॥४५॥
प्रत्येकमेतानि ततोऽक्षराणि स्वस्थक्षरस्थप्रतिपत्तिभेदात् ।
द्विधेति कृत्वा पृथगक्षरैस्तु त्रिभिस्त्रिभिस्तानि विनिर्दिशन्ति ॥४६॥
खमेभिस्त्रिभिरक्षरैस्तु व्यापादिशंस्त्रीण्यवराक्षराणि ।
ओं चेति खं चेति च वाङ्मयं स्यात्, तच्चेति रं चेति मनोमयं च ॥४७॥
सच्चेति कं प्राणमयं प्रविद्यात् तदित्थमाहुः षडिहाक्षराणि ।
ओं यत्र वेदा निहितास्त्रयस्ते, खं यत्र लोका निहितास्त्रयस्ते ॥४८॥
तच्चेति विज्ञानमयं तदेकं प्रज्ञामयं रं सकलं निरुक्तम् ॥४९॥
सृष्टौ प्रविष्टं विरजः सदास्ते कं तु प्रधानं प्रकृतिर्हि सृष्टेः ।
एषु त्रयाणामपि यद्द्वयानि भिन्नान्यभिन्नान्यपि तानि विद्यात् ॥५०॥

अथाहुरेके किल वाङ्मयं यत् खं तदाकाशमिति प्रसिद्धम् ।
ओं खं पुराणं खमथो तृतीयं यद्वायु रं खं, तदतस्त्रिधा खम् ॥५१॥
वेदास्त्रयो यत्र तदों खमाहुर्लोकास्त्रयो यत्र पुराण खं तत् ।
यत्रेष वायू रमतेऽन्तरिक्षे तच्छून्यरूपं किल वायु रं खम् ॥५२॥
प्राणस्य तस्यायनं खमुक्तं प्राणं तदाकाशगतं कमाहुः ।
अन्योन्यसंभक्तमिदं द्वयं स्यान्न चान्यदन्येन विना कदाचित् ॥५३॥
द्वैविध्यमेषां तु तथाक्षराणां नैवाभ्युपेयं फलतोऽविशेषात् ।
त्रीण्यक्षराण्येव निरूपणोयान्यो तत्सदेभिस्त्रिभिरक्षरैः स्युः ॥५४॥
पृथक् प्रधानं विरजश्च वक्ष्यते सृष्टिप्रविष्टप्रत्तिपत्तिभेदतः ।
अथोभयं चोभयशब्दतः समं क्वचिद्विदुः प्राणमयत्वसाम्यतः ॥५५॥
मनोमयेऽप्येवमथापि वाङ्मये विभिन्नशब्दैः समशब्दतोऽपि वा ।
विभेदतो वा तदभेदतोऽपि वा यथेच्छमत्र व्यपदेश इष्यते ॥५६॥

इत्यक्षरत्रयनिरूपणम् ॥

मनः ।

एकं तदित्यक्षरमक्षरस्य मनोमयस्योपनिषत् प्रसिद्धा ।
तत् तन्यते रश्मिधरैरथेदं विश्वं तनोतीति मतं तदेतत् ॥५७॥
अनेजदेगं मनसो जवीयो न पूर्वमर्षत् पर आप्नुवस्तत् ।
तिष्ठत् तदत्येति हि धावतोऽन्यान् दधात्ययस्तत्र हि मातरिश्वा ॥५८॥
तदेजते वा न तदेजते ध्रुवं दूराच्च दूरेऽपि तदन्तिकेऽपि तत् ।
सर्वस्य चैतस्य तदन्तरान्तरे वहिर्वहिस्तच्च निरञ्जनं च तत् ॥५९॥
तदस्ति सत्यं यत एव वह्निर्दहेदयं वायुरिहाददीत ।
इन्द्रश्च सर्वं प्रभवेन्न चैते सत्यातिरेकेण तृणाय वास्युः ॥६०॥
तदस्ति सत्यं किल येन चापो निम्नान् प्रदेशानभियान्ति शश्वत् ।
क्षेत्रे च संयुक्ति-वियुक्तितुल्यौ कोणौ भवेतामखिलेऽर्करश्मेः ॥६१॥
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥६२॥

अथेह सुप्तोऽस्मि न चेरयामि तथापि पश्यामि शरीरमध्ये ।
भवन्ति गच्छन्ति विकुर्वते वा पुनर्विशुद्ध्यन्त्यसृगादिभावाः ॥६३॥
जडा अपीमे नियमानुरूपं कर्माणि कुर्वन्ति न विच्यवन्ते ।
तस्माद् ध्रुवं तेषु नियोजकोऽन्यः स्याच्चेतनः कोपि स कर्मसाक्षी ॥६४॥
स एष तत्कर्म्मसु को नियोक्ता श्राम्यन्ति सर्वे वद किं प्रयुक्ताः ।
व्याचक्ष्महे सत्यमिहास्ति सोऽन्तर्य्यामी स एव प्रयुनक्ति सर्वान् ॥६५॥
कोऽप्याहुरेषां न नियोजकोस्ति स्वभाव एवात्र परं निदानम् ।
यथा हि यत्पश्यथ जायमानं तथा स्वभावः स किलास्ति भावः ॥६६॥
ब्रह्मस्तु तत्रास्तु तथा तथापि भिन्नोऽथ वैकोऽस्त्यखिलस्वभावः ।
विभिन्नरूपाणि भवन्ति कार्य्याण्येषामतस्ते तु पृथक् स्वभावाः ॥६७॥
यतस्तु सर्वेऽप्यविशेषतस्ते नित्यं स्वकर्मस्वभिसंप्रवृत्ताः ।
तस्मात् स एकोऽस्त्यखिलस्वभावः साधारणत्वात्तु न स स्वभावः ॥६८॥
किं तोऽथ वै तेन स योऽयमेषामेकः स्वभावोऽथ पृथक् स्वभावाः ।
तदस्ति सत्यं परमेश्वरोऽयं तान्यत्र सत्यानि त ईश्वराः स्युः ॥६९॥
य एक आत्माऽखिलकार्य्यनिष्ठः स एकरूपेण बलं नियुंक्ते ।
नानाविधत्वं प्रतिपद्य भिन्नात्मानस्तु भेदेन बलानि दध्युः ॥७०॥
आत्मा हि सत्यं तत उद्भवन्ति बलानि कर्माण्यपि ते स्वभावाः ।
यदेव सत्यं तत एव भावोदयोऽन्वितं ब्रूयुरिह स्वभावम् ॥७१॥
श्रृंगद्वये या हरिणस्य वक्रता सान्योन्यसाम्येन विजायतेऽब्दतः ।
ते बर्द्धयेते क्रमशः परस्परं स्वमन्तरं सत्यनियोगतो हि तत् ॥७२॥
निपात्यते यत्किल तत्र वेगो बलं च वृद्धिं च क्रमतो लभेते ।
उत्क्षिप्यते चेद्धसतः क्रमाच्चे सत्यं हि तत्साक्षिनियोक्तृ चाहुः ॥७३॥
पश्यन्ति यद् द्वे बदरस्थकण्टके वक्रं हि तत्रैकमवक्रजं परम् ।
यदन्यदन्यन्नियमानुगं बलं विलोक्यते सत्यनियोगतो हितम् ॥७४॥
तथा च तस्योपनिषत् प्रसिद्धा सत्यस्य सत्यं विदुषां निकाये ।
प्राणा हि सत्या इदमस्ति तेषां सत्यं ततः स्यादिदमेव सत्यम् ॥७५॥
प्राणेषु भूतेषु च सत्यमेतत् प्रज्ञा सुविज्ञानमिदं विभाति ।
व्यपेतपाप्मा तु सशान्तभूमा स्वतन्त्र आनन्द इति प्रतीयात् ॥७६॥

प्राणे तदन्यान्यविशेषयोगानुबन्धिकर्मोदयनाय सत्यम् ।
यदेव पश्यामि तदेतदन्तर्य्यामीह विज्ञानमयः परात्मा ॥७७॥
आकाशदिग्द्योमृदवग्निवाय्वन्तरिक्ष तेजोरविचन्द्रतारम् ।
तमश्च भूतान्यपि च श्रुति-त्वग्-विज्ञान-वाक्-प्राण-मनोऽक्षिरेतः ॥७८॥
एतेषु तिष्ठन्नपि योऽन्तरस्ततो न यं विदुस्तानि च तानि यस्य वा ।
वपूंषि योऽन्तर्यमयत्यमूनि चान्तर्य्याम्यथ तमाऽस्त्यमृतः स सर्वगः ॥७९॥
द्रष्टाऽप्यदृष्टोऽप्यमतः स मन्ता श्रोताऽश्रुतोऽज्ञात उतैष बोद्धा ।
नान्यस्ततो वेत्ति हि किञ्चिदन्तर्य्यामी स आत्माऽस्त्यमृतोऽन्यदार्तम् ॥८०॥
आत्मेह साक्षादपरोक्षतस्तु यः सर्वान्तरः सर्वहितः प्रशासकः ।
प्राणादिभिः प्राणिति स ह्यपानितीहोदानिति व्यानिति वा समानिति ॥८१॥
स एष आत्मा विजरो विशोकोऽपिपास एषोऽविजिघत्स एषः ।
विमृत्युरेवं स निरस्तपाप्मा स सत्यसंकल्पकसत्यकामः ॥८२॥
शोकं च मोहं च जरां च मृत्युं क्षुधां पिपासामपि योऽतियाति ।
ज्ञात्वा हितं विप्रवरास्तिसृभ्यो निर्वेदयामायान्ति किलैषणाभ्यः ॥८३॥
प्रशासने तस्य तदक्षरस्य स्थितौ रवीन्दू विधृताविमौ स्तः ।
प्रशासने तस्य तदक्षरस्य द्यावापृथिव्यौ विधृते इमे स्तः ॥८४॥
प्रशासनादस्य तदक्षरस्य संवत्सराद्या विधृता भवन्ति ।
प्रशासनादस्य तदक्षरस्य स्वां स्वां दिशं ताः सरितोऽनुयान्ति ॥८५॥
या वृत्तयो वाक्षु यतस्ततो वा प्राणस्य सर्वा अपि ता वशे स्युः ।
मनस्ततं प्राणमिह प्रशास्ति प्रशासनादस्य करोति सर्वम् ॥८६॥
अनिच्छतो नोद्धियते करोऽप्ययं लेलायतीच्छानुगताङ्गुलिः पृथक् ।
यावन्मनस्तावदिहाक्षरं मुखादुदीर्य्यते पत्रदले च लिख्यते ॥८७॥
हस्ते हिरण्यं दृढमुष्टिना यो विधृत्य निद्रामुपयाति तस्य ।
मनोनिवृत्त्या दृढमुष्टिबन्धी प्राणो निवर्तेत पतेद्धिरण्यम् ॥८८॥
मनोऽतिरेकेण न काम इच्छा प्राणे विकारो न ततोऽतिरेकात् ।
प्राणो ह्यनिच्छन् यदि कर्म कुर्य्यात् तद्यौगपद्यादिह विप्लवः स्यात् ॥८९॥
ज्ञानं मनस्तद्विषयीह यत् स्याद् यत् सूर्य्यवत् स्यात् परितोंऽशुमालि ।
युनक्ति येनैव तदाकृति स्याद् धत्ते महिम्नः पुनराकृतीस्ताः ॥९०॥

न ज्योतिषां ज्योतिरितो हि तानि ज्योतींषि नः सम्प्रति भान्ति भेदात् ।
नेदं मनश्चेदभविष्यदन्धं तमस्तदार्के सति चाभविष्यत् ॥९१॥
अयं प्रकाशोऽयमिहान्धकारश्छायेयमित्थं विविनक्ति येन ।
ध्वान्तेऽतिगाढेऽपि गतो मनुष्यो ध्वान्तं यतः पश्यति तन्मनः स्यात् ॥९२॥
न तत्र सूर्य्यो न च चन्द्रतारं न विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तं त्वनुभाति सर्वं तस्यैव भासा सकलं विभाति ॥९३॥
सर्वेण रूपेण विवर्तते मनो रसेन गन्धेन जलाग्निवायुभिः ।
पूर्णं च शून्यं च तमस्त्विषं लघुं गुरुं क्षणादाकुरुते तदात्मनि ॥९४॥
हिमालयाद्युच्चशिलोच्चयो वा महार्णवागाधजलाशयो वा ।
आकाशदिक्कालमृदादयो वा मनोऽर्पिता स्युर्न मनोऽभिगास्ते ॥९५॥
अणोरणीयो महतो महच्च यद् यदन्तिके यच्च विदूरके क्वचित् ।
भूतं भविष्यच्च भवच्च यत्पुनः सर्वं तदेतत् सदसन्मनो भवेत् ॥९६॥
न चास्ति तद्यन्मनसा न धार्य्यते न चास्ति तद्यन्न मनोऽधितिष्ठति ।
न चास्ति तद्यन्महिमा न मानसो न चास्ति तत् क्वापि न यन्मनो भवेत् ॥९७॥
न गौरवं तन्मनसीह दृष्टं न चेह गन्धो न रसो न रूपम् ।
न स्पृश्यतेऽवागमनोऽगतीदं सार्वत्रिकं व्याप्तमनन्तमेकम् ॥९८॥
न चाणु न स्थूलमःह्रस्वदीर्घमस्नेहमच्छायमलोहितं तत् ।
अवाय्वनाकाशमसङ्गमेकमचक्षुरश्रोत्रमगन्धमाहुः ॥९९॥
अवागतेजोऽप्यमनोऽरसं चानास्यं तदप्राणममात्रमुक्तम् ।
पश्यन्ति चानन्तरबाह्यमेतन्न भुज्यते नाऽपि भुनक्ति किञ्चित् ॥१००॥
प्रदीप्यते तद् वदतः परो दिवो ज्योतिस्त्रिलोकीभवभासयत्पदः ।
तद्रश्मितोऽस्पृष्टमिहास्ति न क्वचित् विज्ञानमात्मा परमं मनो हितत् ॥१०१॥
सा चेतनैवेह मनोऽस्ति मुख्यतो निधानमेतन्मनसश्चिदक्षरम् ।
मनो हि तस्मिन्नवलम्बितं ततो मतो द्वितीयं चिदिहाक्षरं मतम् ॥१०२॥
मनो हि यस्मिन्नवभाति तन्मनोरूपेण भातीति मनस्तदुच्यते ।
मनस्त्रिधा यत्वपरः परे चिदस्तेष्वेकमेवास्ति परं मनः पृथक् ॥१०३॥
मनांसि पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियाण्यथो ह्यनिन्द्रियं चेत्यपरं त्रिधा मनः ।
चिदक्षरं तद्गतचेतनापरं स्वतः प्रकाशि द्विविधं मनः परम् ॥१०४॥

ज्योतिष्मतो ज्योतिरिदं प्रवर्तते ज्योतिष्मदाभाति तमिन्द्रमाप्नुवत् ।
प्रज्ञोऽयमिन्द्रः किल तस्य रश्मयः सा कज्ञखान्तःकरणास्तृगाहिताः ॥१०५॥
स एष विज्ञानमयस्तदात्मा व्याप्तोऽपि, सर्वत्र न गृह्यतेऽद्धा ।
प्रज्ञे तु षट्प्रज्ञमधिष्ठितेऽयमुद्यन् समुद्द्योतयतीह विश्वम् ॥१०६॥
चिदक्षरं चिद्गतचेतना च सा विज्ञानमेतद्द्वयमुच्यते सह ।
सर्वं विजानाति ततस्ततस्ततं विज्ञानमेतत्परमं मनो विदुः ॥१०७॥
मनो हि यस्मिन्नवभाति तन्मनोरूपेण भातीति मनस्तदुच्यते ।
प्रज्ञे चिदाभासत इत्यतोऽपरं प्रज्ञानमप्यस्ति मनः पृथग्विधम् ॥१०८॥

प्रज्ञानमात्मा विदुरेनमग्र्या आदित्यमेतत्परिवाररूपाः ।
त्रयोऽग्नयः स्युस्त्रय एव सोमा आपश्च तान्यप्यविदन्मनांसि ॥१०९॥

त्रयोऽग्नयःस्युस्तु वसूंश्च रुद्रानादित्यकान् ये पुनरध्यतिष्ठन् ।
सोमास्त्रयोऽन्ये पृथगध्यतिष्ठन् दिशश्च ऋक्षाणि च विद्युतं च ॥११०॥

वाक्प्राणचक्षूंषि ततोऽग्निभिः स्युः श्रोत्रत्वगन्तःकरणानि सोमैः ।
विज्ञानरूपे मनसी ततो द्वे प्रज्ञानमात्मा तु मनस्तृतीयम् ॥१११॥
प्रज्ञान्तरङ्गात्तु मनश्चतुर्थं प्रज्ञा बहिर्धा च मनो जघन्यम् ।

प्रज्ञमनः

विज्ञानमस्ति स्वविकासशीलं प्रज्ञस्त्वयं स्यात् परतः प्रकाशः ।
प्रज्ञः स विज्ञानकृतात्मलाभो विज्ञानरश्मीनपि गृह्य भाति ॥११२॥

विज्ञानमस्मिन् विभवेन्न जातु प्रज्ञो न भासेत तदाल्पतोऽपि ।
सूर्यांशुयोगात्तु यथैष चन्द्रः प्रकाशते तद्वदिहापि विद्यात् ॥११३॥

यथायमादर्शगतः पयोगतः सूर्यस्य बिम्बो बहुरंशुमान् भवेत् ।
प्रज्ञागतं तद्वदिदं मनः परं बहुस्वरूतेण पृथक् प्रदृश्यते ॥११४॥

प्रज्ञे यदाविर्भवतीह तन्मनोरूपं चिदाभासमिमं वदन्ति हि ।
न्यूनाधिकं तत्र च तारतम्यतः सत्वस्य तद्भाति जलेऽर्कबिम्बवत् ॥११५॥

जलस्थितोऽर्कप्रतिबिम्ब एषोऽवभासयत्यत्र यथाऽल्पदेशम् ।
प्रज्ञस्थविज्ञानमिदं तथैव श्रोत्रादिषु स्वान् वितनोति रश्मीन् ॥११६॥

स्वस्थो यथाऽर्कोऽत्र जलेषु नानाविधेषु जातान् दधते स्वबिम्बान् ।
विज्ञानरूपैकपुमांस्तथायं प्रज्ञेषु जातान् दधते स्वबिम्बान् ॥११७॥
प्रज्ञः स तस्मादखिलोऽपि लोकैः स्वैरिन्द्रियैर्वेत्ति यदेव तैस्तैः ।
परस्य विज्ञानमयस्थपुंसो विकास एवास्ति स सर्वतोऽपि ॥११८॥
बोद्धा स मन्ता कुरुतेऽवलोकते घ्राता रसज्ञः शृणुते स्पृशत्यपि ।
विज्ञानरूपः पुरुषः स एकधा क्षरेऽक्षरे चात्मनि संप्रतिष्ठते ॥११९॥
द्युस्थोऽर्कबिम्बो भुवि नो विनोदकादर्शं प्रगृह्येत तथा परं मनः ।
अपि स्थितं सर्वसमं समन्ततः प्रज्ञं विना न प्रणिधीयते क्वचित् ॥१२०॥
मस्तिष्कभागे हृदयं मनस्तद् भास्वानिवाभाति तदंशुमालिः ।
श्रोत्रादिखस्थेष्वसृगास्थितेषु प्रज्ञाविशेषेषु ददाति रश्मीन् ॥१२१॥
श्रोत्रादिरूपैर्बहिरिन्द्रियैर्वा चान्द्रेण वान्तर्मनसेन्द्रियेण ।
यद् भाति तत् प्रज्ञत एव भाति प्रज्ञस्य रश्मीन् दधते हि तानि ॥१२२॥
प्रज्ञाः षडेताः श्रवणत्वगक्षिघ्राणानि जिह्वा च मनः क्रमेण ।
स्युरिन्द्रियाणीन्द्रबलप्रदानि प्रज्ञं मनोऽनिन्द्रियमिन्द्र एषाम् ॥१२३॥
ते गन्धरूपादिविभक्तमूलाः प्रज्ञाविशेषा न यतः समानाः ।
विवर्णकाश्चानुगतांशुवत् तद्गन्धादिभेदैर्दधते विकासान् ॥१२४॥
पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तराङ्गम् ।
आवृत्तचक्षुर्भवति प्रयत्नाद् यः प्रत्यगात्मानमपीक्षते सः ॥१२५॥
श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसोऽपि यन्मनो वाचोऽपि वाक् चक्षुरपीह चक्षुषः ।
प्राणस्य च प्राण उपेयते हि यत् स प्रत्यगात्मा प्रभुरिन्द्रियाणाम् ॥१२६॥
न तत्र चक्षुर्न च वाङ्मनोऽपि वा श्रोत्रं च न प्राण इहोपयुज्यते ।
नैतद्विजानन्ति न तद्विदन्ति वा बुद्धादबुद्धाच्च तदन्यदिष्यते ॥१२७॥
अभ्युद्यते वागिह येन वाचा नाभ्युद्यते यत् स हि प्रत्यगात्मा ।
चक्षुर्यतः पश्यति चक्षुषा यन्न दृश्यते वा स हि प्रत्यगात्मा ॥१२८॥
श्रोत्रं शृणोतीह यतश्च यच्च श्रोत्रेण न श्रूयत एष आत्मा ।
प्राणेन न प्राणिति येन चासौ प्राणः प्रणीयेत स एष आत्मा ॥१२९॥
मनो यतो वा मनुते मतं वा न तेन यत्स्यात् स हि प्रत्यगात्मा ।
आत्मा हि विज्ञानमतन्त्रमेकं पृथङ्नियुक्ते सकलान् स्वधर्मे ॥१३०॥

आत्माविनं क्वापि यतेन्मनस्तत् प्राणोऽपि तेनैव नियुक्त एति ।
प्रज्ञेपितां वाचमिमां वदन्ति प्रज्ञः स चक्षुः श्रवणे नियुङ्क्ते ॥१३१॥
प्रज्ञास्थितिस्त्वन्नत इष्यते ततः प्रज्ञस्य नाशे न मनः प्रदृश्यते ।
जलस्य नाशे रविरश्मिवत् पुनः प्रज्ञक्षये तत् स्वगतं मनो भवेत् ॥१३२॥
प्रज्ञास्त्वनन्ताः प्रभवन्ति ते क्वचिन्नश्यन्ति भिन्ना अपि भिन्नकारणाः ।
ते भिन्नधर्माः प्रभवन्त्यनेकधा न चैकनाशेऽप्यपरो विनश्यति ॥१३३॥

इन्द्रियमनः—

बाह्येन्द्रिये चान्तरितेन्द्रिये वाऽप्यनिन्द्रिये वा मनसि स्वभावात् ।
परं मनस्तद्धि भवेत् समानं गृह्णन्ति तत् तानि तु तारतम्यात् ॥१३४॥
प्रज्ञश्चतुष्पादुपपद्यतेऽयं भौमेन चान्द्रेण च विद्युता च ।
सौरेण चैषां समवायतोऽयं तत्तत्प्रधानः प्रभवेच्चतुर्धा ॥१३५॥
पञ्चेह देवाः पृथगात्मना धृताः पञ्चेन्द्रियाणि प्रभवन्ति तेषु तत् ।
परं मनो मन्दमुपेत्यथैन्दवे त्वपेक्षयाऽनल्पमुपैति वैद्युते ॥१३६॥
विद्युन्मनश्चान्द्रमिहान्तरिन्द्रियं तत्रापि तत्स्याद्विषयप्रभेदतः ।
न्यूनाधिकं तेन तदेकमुच्यते विज्ञानसम्पर्कवशादनेकधा ॥१३७॥
कामोऽथ संकल्प उतैष संशयस्त्रपामतिर्भीरसुधृ तिस्तथा या ।
श्रद्धा च सर्वं तदिदं मनो मतं वैज्ञानिके वृत्तिमतीह संभवात् ॥१३८॥
प्रज्ञानविज्ञानमनोमनीषा जूतिः स्मृतिर्दृष्टिरसुधृ तिर्धीः ।
संज्ञानसंकल्पमतिक्रतुज्ञा मेधावशः काम इमे समर्थाः ॥१३९॥

प्राण-प्रज्ञा-चितामोतप्रोतभावः—

ऊर्ध्वं दिवो यद्यदवाक्पृथिव्या द्यावापृथिव्यौ च यदन्तरास्ति ।
भूतं भविष्यच्च भवच्च विश्वाधारं हितं प्राण इति ब्रुवन्ति ॥१४०॥
यस्मिन् समस्तं जगदेतदोतं प्रोतं तदेतत् पुनरस्ति चोतम् ।
प्रोतं त्रिधाकाश इतीत्थमोतः प्रोतः स आकाश इहाक्षरेऽस्ति ॥१४१॥
यो वै बहिर्धा पुरुषादयं महाकाशः स तावान् पुरुषेऽन्तराहितः ।
आकाश एवं हृदयेऽन्तराहितोऽप्याकाश उक्तो दहराभिधोऽपरः ॥१४२॥

यैर्यैर्बहिः पुष्करमस्ति पूर्णं पूर्णं हितैः पुष्करमान्तरं तत् ।
तैः पुण्डरीकं दहरं च पूर्णं त्रिपुष्करं ब्रह्मपुरं निराहुः ॥१४३॥
प्रज्ञं मनो ब्रह्म यदेतदुक्तं त्रिपुष्करेऽन्तर्निहितं तदस्ति ।
लोकी न लोकादिह भिद्यते यन्मनोऽयमाकाश इतीष्यते तत् ॥१४४॥
वाक्प्राणचक्षुःश्रुतितो मनस्तत् प्रवर्तते यद्वदिदं चतुष्पात् ।
तथाग्निवायूष्णगुदिग्भिरूर्ध्वोऽप्याकाश एष प्रथते चतुष्पात् ॥१४५॥
प्रज्ञः स आकाश इहेष्यते यः प्राणः समस्ता इह संनिविष्टाः
आकाश एषोऽस्ति पुनर्निविष्टः परत्र विज्ञानमयेऽक्षरेऽस्मिन् ॥१४६॥

प्रज्ञविभागानां पृथक्कर्माणि—

प्रज्ञोऽयमात्मा चतुरात्मकः स्याद् वैश्वानरोऽन्यः किल तैजसोऽन्यः ।
प्राज्ञोऽन्य एभ्यस्तु परस्तुरीयः सूर्योऽयमात्मा स वसिष्ठ एषाम् ॥१४७॥
वैश्वानरः पार्थिवतेज इष्यते चन्द्रागतो वायुरिहास्ति तैजसः ।
विद्युन्मयः प्राण इहान्ववैति यः प्राज्ञः स इन्द्रोऽत्र परः परो बली ॥१४८॥
अग्निश्च वायुश्च स इन्द्र इत्थं त्रिपूरुषः पूरुष एष आत्मा ।
सर्वं शरीरं विभवत्यथैतान् सूर्य्योऽयमात्मा पुनरध्यतिष्ठत् ॥१४९॥
यत्पार्थिवं यत्पुनरान्तरीक्ष्य दिव्यं शरीरे यदिहास्ति किञ्चित् ।
त्रैलोक्यसम्बन्धि समस्तभूतं त्रयोधि तिष्ठन्ति शरीरनिष्ठाः ॥॥१५०॥
यत्पूरुषाः प्राणमयास्त्रयस्ते देहेऽधितिष्ठन्ति चरन्ति किञ्चित् ।
प्रज्ञो नियोगादिह कर्म्म तत्स्यात् प्रज्ञा तु विज्ञानमयात् परस्मात् ॥१५१॥
चितः प्रभावेण स एष वह्निर्दर्हक्ष्यं वायुरिहाददीत ।
इन्द्रश्च सर्वं प्रभवेन्न चैते चितोऽतिरेकेण तृणाय वा स्युः ॥१५२॥
पूर्वस्य पूर्वस्य रसः परस्मिन्नुपैति तस्मादिह देहिकल्पे ।
सूर्य्यस्य चन्द्रस्य तथा पृथिव्याः प्रज्ञाः सभूता अपि यान्ति योगम् ॥१५३॥
पशुः पृथिव्यैव ततश्चतुर्थः कल्पः पृथङ् न प्रतिपद्यते हि ।
या पार्थिवज्ञा तदभेदसिद्धा शारीरिकज्ञापि षडिन्द्रियस्था ॥१५४॥
गृहे त्रिधा दीप विभा इव ज्ञा इमा हि तिस्रोऽपि सहान्विता स्युः ।
प्रज्ञा च सा सा विभवत्यमुष्मिन् स्वे स्वे महिम्नीति निसर्ग एषः ॥१५५॥

वैश्वानरस्यान्नमयस्तु कोशो वायोस्तथा प्राणमयश्च कोशः ।
प्राज्ञस्तु कोशस्तु मनोमयः स्याद् यो यस्य कोशो महिमा स तस्य ॥१५६॥

वैश्वानरोऽप्यत्र स तैजसोऽपि प्राज्ञोऽपि चित् तत्प्रतिबिम्बितापि ।
आशीर्षमापादतलं शरीरं व्याप्नोति चालोमनखाग्रदेशात् ॥१५७॥

तथाऽपि यः स्वो महिमा तदन्येष्ववस्थितोऽप्येष न गृह्यतेऽद्धा ।
स्वान् स्वान् नियुंक्ते स महिम्न एतानसौ भुनक्तीह स भुज्यते तैः ॥१५८॥

भौमं हि चान्द्रेऽस्त्यपि चान्द्रमस्मिन् सौरेऽपि बद्धं न वियाति तस्मात् ।
सौरं तु बद्धं जननीहृदुत्थप्राणाहितात्मत्रयबन्धयोगात् ॥१५९॥

प्राणत्रयात् पार्थिवचान्द्रसौरात् प्रज्ञात्रयी या पृथगुत्थिता स्यात् ।
सिद्धेऽन्विताभिस्तिसृभिस्तताभिस्त्रीप्रज्ञरूपे प्रतिबिम्बिते चित् ॥१६०॥

प्राणत्रयस्यास्य तु यावदेतत् प्रज्ञामयस्यास्ति विशेषबन्धः ।
तदुत्थविज्ञानघनोऽपि तावत् प्रज्ञात्रयस्थप्रतिबिम्बरूपः ॥१६१॥

एकाऽपि चित् सा त्रिगता त्रयाणां नाडीषु तेषां स्वहितासु भेदात् ।
पृथक् पृथक् चारयतीह रश्मीन् भिन्नाश्च तैः स्युर्विषया गृहीताः ॥१६२॥

गृह्णातिशब्दं न यथाक्षिरश्मिर्न रूपविच्छ्रोत्रगतश्च रश्मिः ।
प्रज्ञात्रयोत्था अपि रश्मयस्ते विभिद्य गृह्णन्ति तथा स्वमर्थम् ॥१६३॥

प्रज्ञा हि भौमी प्रतिभूततत्तद्बाह्यार्थसंवेदनमात्रकर्म्मा ।
चान्द्री तु बाह्यानुभवा हितार्थान् संस्काररूपान् प्रतिबोद्धुमीष्टे ॥१६४॥

सौरीशरीराङ्गविशेषसंस्था निर्म्मापकप्राणनियोगहेतुः ।
सौषुप्तिकस्वाप्निकजागृतिस्थामानन्दमात्रामनिशं प्रवेत्ति ॥१६५॥

यस्या हि रश्मिः प्रतिरुध्यतेऽस्मिन् तदुत्थसंज्ञैव विलोपमेति ।
अन्यस्य रश्मेर्विभवेऽपि तस्मान्न ज्ञायते स्वाद्विषयादतीतम् ॥१६६॥

तत्प्रज्ञरश्मेर्विषये स्वकीये क्लृप्तो ग्रहातिग्रहरूपबन्धः ।
न तादृशो बन्ध उदेति यस्मिन् न तस्य संज्ञा समुदेति तस्मात् ॥१६७॥

प्रज्ञासु तासु त्रिविधासु चित् सा व्याप्नोति तत्तन्महिमान्वितासु ।
तद्व्याप्तिसंकोचवशादिह स्युः प्रज्ञस्य पञ्च प्रचिता अवस्थाः ॥१६८॥

परं मनो यत्र विभाति भौमद्वारेन्द्रियज्ञास्वपि जागृतिः सा ।
स्वप्नः स चेज्ज्ञां विजहाति भौमी चान्द्रीं जहातीति सुषुप्तिरेषा ॥१६९॥
रश्मींस्तु सौर्य्या व्यवसृज्य मूर्छा सौरीमशेषामपवृज्य मृत्युः ।
प्रज्ञा गृहीता चिदियं विभाति प्रज्ञापलापे ह्रियते स्थितैव ॥१७०॥
विज्ञानरूपं हि मनो विभास्वरं प्रज्ञासु रश्मीन्नियुनक्ति स्नावता ।
जागर्ति तावद्बलिमाहरन्ति च प्रज्ञे तदिन्द्रे खलु धीन्द्रियाण्यपि ॥१७१॥
परप्रभा दैहिकसप्तमा इमे प्रज्ञाविशेषा यदि भान्ति नो बहिः ।
स्वपित्ययं तर्हि न जिघ्रतीक्षते न वेत्ति किञ्चन्न करोति बाह्यतः ॥१७२॥
परं मनस्तर्हि युनक्ति दैहिकं प्रज्ञानमिन्द्राख्यमनिन्द्रियं मनः ।
तदाहितोऽयं महिमाऽवभासते स्वप्ने बलिं चाहरतीन्द्रियं मनः ॥१७३॥
दृष्टं श्रुतं प्रत्यनुभूतमश्रुतं चादृष्टमप्रत्यनुभूतमेव वा ।
असच्च सच्चाखिलमत्र पश्यति प्राणप्रणोदेन विलक्षणकृति ॥१७४॥
तत्तेजसा चेदभिभूयते मनः प्रज्ञे तदिन्द्रे न तदेन्द्रियं मनः ।
स्वप्नान्न पश्यत्ययमत्र तत् सुखं शान्तं सुषुप्तं स्वगतं मनस्तदा ॥१७५॥
मरीचयोऽर्कस्य च गच्छतोऽस्तवद् यथैकतां तैजसमण्डले गताः ।
ततः पुनस्ताः प्रचरन्ति चोद्यतः परे मनस्येकमिदं तथाऽखिलम् ॥१७६॥
धीप्राणभूतैः सहितं समात्रकैः प्रतिष्ठते सत् सकलं परात्मनि ।
यथा वयांसीह निवासपादपं स्वं संप्रतिष्ठन्त इह क्षपामुखे ॥१७७॥
प्राणाः स्थिता यत्र सहैव सर्वैर्देवैश्च भूतानि वसन्ति यत्र ।
अकायमच्छायमलोहितं तद्विज्ञानरूप्यक्षरमस्ति शुभ्रम् ॥१७८॥
तदद्रष्टृदृष्टं त्वमतं च मन्तृ श्रोत्रश्रुतं बोद्धृ तदस्त्यबुद्धम् ।
नान्यत् ततः किञ्चिदिहास्ति द्रष्टृ श्रोतृ प्रविज्ञातृ च मन्तृ चेति ॥१७९॥
प्रतिक्षणं सूर्य्यपरिक्रमेण तेजो यदस्नाति चिराय देही ।
द्विधा विभक्तस्य रसं गृहीत्वाऽऽत्मने मलं तूर्ध्वमुखं जहाति ॥१८०॥
जह्यान्न चेच्छोणितगं तदस्य प्रदूष्य रक्तं जनयेद् रुजोऽपि ।
तत् त्यज्यमानं क्रमतेऽधिशीर्षं शीर्ष्णो बहिर्भूय सुखं करोति ॥१८१॥
जागर्ति चेत् स्वामसृजं प्रसन्नामचेष बुद्धिं लभते प्रसन्नाम् ।
अल्पं च तत् स्याद्बहु चापि तेजो मलं शरीरप्रकृतेर्विभेदात् ॥१८२॥

उत्थाय चासृग्भ्य इदं हि तेजो मलं बहिष्ट्वाय शिरोऽभ्युपैति ।
शीर्ष्णः प्रसृप्तास्त्रिविधास्तु ता ज्ञा रुन्धन्ति तस्योत्क्रमणस्य मार्गम् ॥१८३॥
धूमज्ञयोः स्यात् समरस्तु यावत् तावत् स तन्द्रामुपयात्युभाभ्याम् ।
यच्छोणितं धूमसुमिश्रितं स्यात् प्रज्ञस्तु स स्यादलसस्वभावः ॥१८४॥
तेजोमलं चेत् प्रबलं तदानीं ज्ञां पार्थिवीमप्यचलां रुणद्धि ।
तद्धूमरुद्धप्रसरा हि संज्ञाऽपवृज्यते स्वादखिलान्महिम्नः ॥१८५॥
यो मस्तके बिन्दुरिहास्ति भूतसंज्ञावहस्नायुवितानयोनिः ।
धूमेन तत्संवरणादशेषा अन्तर्हिता इन्द्रियगांशवः स्युः ॥१८६॥
स्वप्ने तदा संव्रियते हि भूतज्ञायोनिरुच्छिन्नतरस्तु न स्यात् ।
चान्द्रस्थितः संवरणव्यपाये प्रागवत् पुनश्चारयति स्वरश्मीन् ॥१८७॥
स्वप्ने कदाचिद् यदि चान्द्रतेजः प्राणैस्तु तैस्तैरनुयाति भौमैः ।
तत्रास्य मूत्रं स्रवते पुरीषमुत्सृज्यते स्कन्दति चास्य रेतः ॥१८८॥
सुप्तः स वल्गत्यपि वा स वाचं श्रुत्वा कदाचित् प्रतिभाषते च ।
प्राणेन भौमेन यदि व्यपेतं तेजोऽस्ति चान्द्रं न तदेदमस्ति ॥१८९॥
तेजोमलेऽतिप्रबले तु चान्द्री प्रज्ञापि सा स्यादिह धूमरुद्धा ।
अन्तर्मनोऽभ्याश्रितरश्मियोनेर्बिन्दोश्च तेनावरणात् सुषुप्तिः ॥१९०॥
तत्रापि नोत्सीदति चान्द्रसंज्ञायोनिः स बद्धः किल सौरयोनौ ।
अन्तर्मनस्येष पुनः स्वरश्मीन् संचारयत्यावरणव्यपाये ॥१९१॥
प्रज्ञा हि संज्ञाविगमेऽपि नाशं नोपैति भौमाप्ययमेति चान्द्रयाम् ।
चान्द्री च सौर्य्यामयमेतदात्मा तत् स्वाप्ययादेव वदन्ति सुप्तिम् ॥१९२॥
तेजोमलं चापि महाबलिष्ठं न सौरसंज्ञावहनाडिचारि ।
तेजोऽवसेद्धुं क्षमते कदाचित् तस्मात् सुषुप्तान्न परास्त्यवस्था ॥१९३॥
प्रज्ञावहः प्राण इहास्ति सौरं तेजः सुषुप्तस्य च न व्यपैति ।
प्राणो हि जागर्त्ति ततः शरीरे यावच्च जागर्ति स तावदायुः ॥१९४॥
जाग्रत्ययं स्यात् पुरुषो हि पञ्च ज्योतिः परं तस्य मनो मनोभिः ।
ज्योतिःष्वियात् पर्य्ययते विपर्य्ययेत्यास्ते स कर्म्माणि करोति तेन ॥१९५॥
ज्योतिस्तु सूर्य्यो हिमगुः शिखी वागात्मा च पूर्वापगमे परं स्यात् ।
निर्ज्ञायते यत्र निजो न पाणिर्धीमानुपन्येति स तत्र वाचा ॥१९६॥

आत्मा तु विज्ञानमयोऽयमन्तर्ज्योतिर्हृदि प्राणगतः पुमान् यः ।
परं मनस्तन्ननु वाक् प्रतिष्ठं परोरजः प्राणमिहाध्यतिष्ठत् ॥१९७॥
संसृज्यते पाप्मभिरेष देहे सम्पद्यमानः किल जायमानः ।
उत्क्रम्यते चेन्म्रियते तदानीं तत्पाप्मनोऽसौ विजहाति तर्हि ॥१९८॥
अयं च लोकोऽथ परश्च लोकः सन्ध्यं तृतीयं च तदित्थमस्य ।
स्थानत्रयं स्यात् पुरुषस्य तत्र यथेच्छमात्मा विहरत्यजस्रम् ॥१९९॥
लोकावुभौ संचरतीव लेलायतीव स ध्यायति वैकरूपः ।
स्वप्नो भवन् लोकमिमं स मृत्यो रूपाण्यतिक्रामति मध्यसंस्थः ॥२००॥
पुमान् स विज्ञानमयस्तदानीं प्रज्ञाभिरादाय समस्तसंज्ञाः ।
हृद्यन्तराकाशगतस्तु शेते प्राणांश्च भौमान्निखिलान्निगृह्य ॥२०१॥
स्थाने स संध्येऽनुगतः सहैवोत्पश्यत्युभौ लोकमिमं परं च ।
स एकतः पश्यति पाप्मनस्तानानन्दमात्राः परतोऽभिचष्टे ॥२०२॥
स्वपित्ययं सर्वमिदं स्वभासा स्वज्योतिषा च स्वयमेव कृत्वा ।
स्वयं विहत्यापि पुमानयं स्यात् स्वप्ने स्वयंज्योतिरथाहुरन्ये ॥२०३॥
न तत्र पंथा न रथा न योगा न पुष्करिण्यो न च वा स्रवन्त्यः ।
नानन्दमोदप्रमुदो भवन्ति सर्वं स एकः सृजते स कर्ता ॥२०४॥
स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यप्राणेन सुप्तानभिचाकशीति ।
आदाय शुक्रं पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पूरुष एकहंसः ॥२०५॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पूरुष एकहंसः ॥२०६॥
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुते वापि भयानि पश्यन् ॥२०७॥
यथाऽऽततः कोऽपि महापथः पुरे उभे युनक्तीह तथार्करश्मयः ।
उभौ हि लोकावनुयान्ति चातता अमुं तमादित्यमिमं च हृद्गतम् ॥२०८॥
ये वा प्रतायन्त इहार्कतो हिते हितासु नाडीषु भवन्ति संहिताः ।
ये तु प्रतायन्त इतोऽपि ते पुनः सूर्य्ये भवन्तीह समर्पिता इति ॥२०९॥
सुप्तः समस्तः स हि संप्रसन्नः स्वप्नं न जानाति यदा तदा तम् ।
आस्वेव नाडीषु हि तासु सृप्तं तेजःस्थितं न स्पृशतीह पाप्मा ॥२१०॥

पुमान् स विज्ञानमयस्तदानीं प्रज्ञाभिरादाय समस्तसंज्ञाः ।
हिताः प्रणाल्या हृदयात् प्रसृप्य शेते पुरीतत्यखिलान्निगृह्य ॥२११॥
पुरीं तनुं या इह तन्वते हि ताः पुरीततः स्नायव एव ता मताः ।
अर्वाग् यथा भास्करतः प्रतायिता हृदः शरीरेऽपि तथा प्रतायितः ॥२१२॥
केशो यथा भिन्नतमः सहस्रधा तथाऽणिमानं हि गता विचित्रिताः ।
शुक्लाश्च नीला हरिताश्च लोहितास्ताः पिङ्गला भानुगभस्तिवत् ततः ॥२१३
द्वासप्ततिस्नायुसहस्रसंमिताः प्रतिष्ठिता या हृदयात् पुरीततम् ।
नाड्यो हि ता नाम स तत्पथा चरन् पुरीतति प्रत्यवसृप्य तिष्ठति ॥२१४॥
रत्वा चरित्वेह स संप्रसादे पुण्यं च पापं च निरीक्ष्य तत्र ।
पुनः प्रतिन्यायमुपैति सोऽर्वाक् स्वप्नान्तमत्र प्रतियोनि भाति ॥२१५॥
रत्वा चरित्वेह च तत्र संध्ये पुण्यं च पापं च निरीक्ष्य तत्र ।
पुनः प्रतिन्यायमुपैति सोऽर्वाग् बुद्धान्तमत्र प्रतियोनि भाति ॥२१६॥
रत्वा चरित्वेह ततः प्रबोधे पुण्यं च पापं च निरीक्ष्य तस्मिन् ।
पुनः प्रतिन्यायमिहोर्ध्वमेति स्वप्नान्तमेव प्रतियोनि सोऽयम् ॥२१७॥
यथा महामत्स्य उभे हि कूले पूर्वापरे संचरति स्वतन्त्रः ।
एवं ह्युभौ संचरतीह सोऽन्तौ स्वप्नान्तबुद्धान्तपरौ स्वतन्त्रः ॥२१८॥
पक्षी यथा खे परिपत्य पक्षौ संहत्य विश्रान्तुमुपैति नीडम् ।
तथा पुमान् धावति तत्र यस्मिन्न स्वप्नदर्शी न स कामकामी ॥२१९॥
अपास्तपाप्माऽभयमाप्तकामं शोकान्तरं रूपमकाममेतत् ।
प्रज्ञात्मनाश्लिष्ट इहैष बाह्यं न चान्तरं वेद विपुण्यपापः ॥२२०॥
न यच्छृणोति स्पृशति ब्रवीति स्वदित्ययं जिघ्रति पश्यतीह ।
न यद्विजानाति न मन्यते वा न तत्र दृश्यादिविलोप इष्टः ॥२२१॥
विज्ञानमेव श्रुतिदृष्टिरूपं तच्चाविनाश्यस्ति यतोऽक्षरं तत् ।
पश्यन्न पश्यत्यपरं न किञ्चित् ततोऽन्यदत्रास्ति यदेष पश्येत् ॥२२२॥
स्याद् दृष्टिदृश्यं च यदान्यदन्यत् तदायमन्योऽन्यदिहानुपश्येत् ।
यत्रैक एवास्ति स किं नु पश्येत् द्रष्टारमेकं तु स केन पश्येत् ॥२२३॥
यदा प्रसुप्तः किल पाणिनैषः प्रबोध्यते तर्हि तदा हतोऽसौ ।
पुरीततः स्वं हृदयं प्रसृप्य प्राणांश्च संज्ञाश्च पुनस्तनोति ॥२२४॥

यथोर्णनाभिः किल तन्तुनोच्चरेत् क्षुद्राः स्फुलिङ्गाश्च यथाग्नितस्तताः ।
एवं ततो व्युच्चरिता हि देवताः प्राणाश्च लोकाश्च भवन्ति भूतवत् ॥२२५॥
यत्र स्वकाले म्रियते स तर्हि प्रयाति शारीरिक एष आत्मा ।
प्राज्ञेन चान्वागतमेव तेन द्रढिष्ठमुत्सर्जदनो यथेयात् ॥२२६॥
पक्वं फलं बन्धनतः प्रमुच्यते यथा तथाऽयं पुरुषोऽपि देहतः ।
अङ्गेभ्य एभ्यः प्रतिमुच्य सर्वतः प्राणं प्रतिन्यायमुपैति तत्क्षणे ॥२२७॥
स चान्ववक्रामति तत्र तेजोमात्राः प्रगृह्णन् हृदयं स्वमेव ।
नृपं स्वभृत्या इव चान्तकाले प्राणास्तमात्मानमनुव्रजन्ति ॥२२८॥
यच्चाक्षुषस्तत्र पराङ् स पर्य्यावर्तेत तेनास्ति न रूपवित् सः ।
तथा शृणोति स्पृशति ब्रवीति स्वदित्ययं जिघ्रति वा न किञ्चित् ॥२२९॥
प्राणैर्यदा प्राण इहैकभूतः प्रद्योततेऽग्रं हृदयस्य तस्य ।
तेनैष आत्मा बहिरेति मूर्ध्नोऽप्यक्ष्णोऽथवाऽस्यान्यशरीरदेशात् ॥२३०॥
शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमिभिनि सृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥२३१॥
प्राणस्तमुत्क्रान्तमनूत्क्रमेत प्राणास्तमुत्क्रान्तमनूत्क्रमेरन् ।
प्रज्ञः स विज्ञानमयः स पूर्वप्रज्ञश्च यातीह सकर्म्मविद्यः ॥२३२॥
जलायुकावत् पुनरेष आत्मा शरीरमेतद् विनिहत्य पूर्वम् ।
अपूर्वमन्यज्जनयेच्छरीरं दैवं च गान्धर्वमथान्यदर्घ्यम् ॥२३३॥
स एष विज्ञानमयो मनोमयः स एष च प्राणमयो रजोमयः ।
स एष वा काममयोऽप्यदोमयोऽपीदंमयः साधुरसाधुरेव वा ॥२३४॥
पुण्ये न पुण्यः स हि कर्मणा स्यात् पापेन पापः स यथा क्रतुः स्यात् ।
यथा चरित्रश्च तथैव विद्याकर्मानुसारेण वपुर्लभेत ॥२३५॥
अन्ये विदुः काममयः पुमानयं यत्काम एषोऽस्ति स तत्क्रतुर्भवेत् ।
स यत्क्रतुः कर्म तथा करोत्ययं यथा करोत्येष तथाभिपद्यते ॥२३६॥
द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुतमर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥२३७॥
स कीदृशोऽयं पितृयाणमार्गः कथं विधो वा स हि देवयानः ।
कथं च ताभ्यां गतिरस्य सिद्धा प्रवक्ष्यते विस्तरतस्तदग्रे ॥२३८॥

यः पूरुषः कामयमान आस्ते कामात्मना कर्म्मणि सज्जते सः ।
तत्कर्मनिष्ठस्य गतिर्निरुक्ता निष्कामपुंसस्तु परं प्रवक्ष्ये ॥२३९॥
प्राणत्रयस्यास्य तु यावदेतत् प्रज्ञामयस्यास्ति विशेषबन्धः ।
तदुत्थविज्ञानघनोऽपि तावत् प्रज्ञात्रयेऽस्मिन् प्रतिबिम्बमानः ॥२४०॥
नैष्कर्म्यैयोगेन तु तत्र सौरप्राणस्य चान्द्रस्य च पार्थिवस्य ।
अन्योन्यबन्धोऽयमुपैति नाशं त्रयः पृथक् चेच्चिदपि व्यपेयात् ॥२४१॥
घनो यथा वायुचयस्थिताभ्यः सोऽद्भ्यः समुत्थाय पृथग् विभाति ।
तासामपां वायुवशात् पृथक्त्वे तास्वेव लीनो न पुनर्विभाति ॥२४२॥
यथोदके सैन्धवखिल्य आहितो निलीयतेऽनूदकमेव सर्वतः ।
पृथङ् न तत्रोद्ग्रहणाय शक्यते नापां च देशो लवणैर्विना क्वचित् ॥२४३॥
एवं महद्भूतमनन्तमेतद् भूतस्थितप्रज्ञचयात् समुत्थम् ।
तान्येव भूतान्यनुलीयते यत् प्रेत्यास्य संज्ञा न ततः पृथक् स्यात् ॥२४४॥
अप्येति सर्वाननु चित् तथेयं प्रज्ञा निजं प्राणमनूतभूतम् ।
प्राणोऽनुतद्भूतमिदं पृथक्त्वाद् स्वं योनिमप्येति पृथक् स्वमार्गम् ॥२४५॥
तत्रैष तावत् पुरुषः शरीरादस्माद्यदोत्क्रामति तर्हि सूर्य्ये ।
तैराततै रश्मिभिरेव सद्यः समर्प्यतेऽसौ मनसो जवेन ॥२४६॥
वायुश्च विद्युद्वियतः समुत्था ज्योतिः परं प्राप्य भवेत् स्वरूपे ।
स संप्रसादोऽपि तथा शरीरादस्मात् समुत्थाय भवेत् स्वरूपे ॥२४७॥
पज्ञो हि नानाविधतेजसां चयो बन्धेन जायेत स मुक्तबन्धनः ।
सर्वार्थपार्थक्यवशात् स आत्मभिर्हीनः परां शान्तिमुपैति चिच्छा ॥२४८॥
नैष्कर्म्यकैवल्यमिदं हि मृत्युः पाप्माऽऽत्मनो यत् परिमुच्यते तत् ।
स्यादत्र पाप्मोद्भवसर्वदुःखक्षयात् स्वरूपेण सतः प्रसादः ॥२४९॥
स एष निर्वाणपथोऽस्ति हीनोदर्कः क्रमादत्र वियाति बन्धः ।
परस्तु कैवल्यपथोऽस्ति भूमोदर्को भवत्यत्र हि सर्व आत्मा ॥२५०॥
प्रज्ञो य आत्मा त्रिगुणाभ्युपेतः कपूयचारित्र्यवशादमुष्मिन् ।
प्रदुष्टसंस्कार उपैति तस्मिन्निष्पद्यतेऽसौ मलिनः क्रमेण ॥२५१॥
प्रज्ञस्य मालिन्यवशात् स बालिशो मूर्खोऽनभिज्ञः प्रतिपद्यते जनः ।
तस्यैव संस्कारवशात् समुज्ज्वलप्रज्ञः सुधीः स्याद्विषयप्रभेदतः ॥२५२॥

विज्ञानमस्मिन् मालिने न भासते यथावदप्याहितमन्तरायतः ।
ततः स पश्यन्नपि साधु नेक्षते दुर्वृत्तितः संसरणं च गच्छति ।।२५३।।
प्रज्ञा हि पञ्चापि मनश्च षष्ठं प्रज्ञः स यः सप्तम इत्थमेते ।
विज्ञानसंपन्नतमा विशुद्धा बहिर्निरन्नाः परमा गतिः सा ।।२५४।।
स्थिरामिमामिन्द्रियधारणां विदुर्योगं हि विज्ञानमिहातियुज्यते ।
प्रज्ञो विशुद्धः क्रमशो भवन्नसौ विज्ञानसायुज्यमुपैति लीयते ।।२५५।।
दुर्गे यथा वृष्टपयोऽभिधावति प्रपर्वतेष्वेवमिदं परं मनः ।
प्रज्ञे पृथग् धर्मचयेषु धावति क्रमेण तानावृणुते तथात्मना ।।२५६।।
विशुद्धमासिक्तमिहोदकं यथा शुद्धोदके तादृशमेव जायते ।
एवं मुनेरस्य विजानतो भवेदात्मा स विज्ञानसरूपतां गतः ।।२५७।।
बन्धोऽपि योगोऽपि यतो विभूतिस्तद्ब्रह्मविद् ब्रह्म भवेत् स तर्हि ।
आत्मैव सर्वं भवतीति भूमा रसः स आनन्दघनस्तदा स्यात् ।।२५८।।
कैवल्यमेतत् किल ब्रह्मभूयं स कल्पतेऽस्मिन् सकलोऽपि पाप्मा ।
तद् ब्रह्मभूयाय ततोऽद्वितीयोऽभयः स आत्मा विभवत्यनन्तः ।।२५९।।
चिदेव चात्मा च तदन्वयात् क्रमात् प्रज्ञाश्च देवास्त्रिविधास्त्रिपूरुषः ।
प्रज्ञः स आत्मा द्विविधेन्द्रियान्वितश्चिदन्वयादेव च भूतविग्रहः ।।२६०।।
प्रधानशब्देन चिरोपकारिभिर्द्रव्यैर्विशिष्टस्य विशुद्धवद् ग्रहः ।
स स्थूणसाधनससाधनोत्तराधानोऽपि शुद्धोऽपि च दीप उच्यते ।।२६१।।
यदिन्द्रियेष्वैन्द्रियकेऽप्यनिन्द्रिये किञ्चिन्मनस्युक्तमुतापरं क्वचित् ।
परे मनस्येव तदस्ति लक्षितं यथाहुरग्रे भगवन्महर्षयः ।।२६२।।
"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।२६३।।
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।२६४।।
यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।२६५।।
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।२६६।।

यस्मिन् ऋचःसामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२६७॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२६८॥

(शुक्लयजुः सं० ३४ अ०)

प्रज्ञश्चतुष्पादिह वक्ष्यते चिराद् भौमेन चान्द्रेण च सौरतेजसा ।
तथैव विज्ञानमयात्मतेजसा तेजस्खलं तेज इहावभासते ॥२६९॥

उत्क्रान्तिरस्यास्ति सकामपक्षेऽनुत्क्रान्तिरस्यास्ति निवृत्तिपक्षे ।
प्राणाश्च देवेषु यथापियान्ति प्रवक्ष्यते विस्तरतस्तदग्रे ॥२७०॥

इति मनोलक्षणम्

वाक् ५

समुद्रवत् तिष्ठति सर्वतः समं रसो बलाढ्योऽत्र रसे निसर्गतः ।
बलाद्बलेनैव कृतानुबन्धनाद् यथाविधं रूपमुदैति सैव वाक् ॥२७१॥

बन्धप्रधाना भवतीह वागियं प्राणादतः स्थौल्यमुपैति किञ्चन ।
अन्तर्बहिर्वाचमिमां समन्ततः प्राणः समाक्रम्य ततोऽवतिष्ठते ॥२७२॥

खमण्डले यावति सप्तपूरुषः स पूरुषस्तिष्ठति चाशनायितः ।
तत्रैतदिन्द्रस्य बहिश्चतुर्दिशं प्राणैः परा वागपि सप्तभिर्धृता ॥२७३॥

बद्धा हि सा वागसमर्थतां गता नालं भवेदात्मविधारणे स्वयम् ।
प्राणस्ततस्तामनुविश्य सर्वतस्तामात्मसात्कृत्य विधारयत्ययम् ॥२७४॥

प्राणं विना न प्रभवेदियं वाक् प्राणोऽपि वाचा न विना कृतः स्यात् ।
वाग् यावती येन विधारिता सा तं प्राणमावृत्य पृथक् स्थिता स्यात् ॥२७५॥

सा वाग् द्विधा स्यादिह पौरुषेयी चापौरुषेयीति च भेदतो हि ।
सा पौरुषेयी पुरुषः प्रयत्नाद् यां वाचमुच्चारयतीह लोके ॥२७६॥
या वैखरी वागथ मध्यमाया पश्यन्त्यपि स्यादथ या परा च ।
एभिश्चतुर्भिः प्रथते प्रभेदैर्या मानुषी सा किल पौरुषेयी ॥२७७॥

न प्रत्ययः कश्चन दृश्यते तथा न यत्र शब्दानुगमोऽवभासते ।
शब्दानुविद्धा हि मतिः प्रजायते सा मानसी वागिह कथ्यते परा ॥२७८॥
चेत् पुस्तकन्यस्तलिपिं प्रवाचयन्नोष्ठापिधानं विवृणोति नो मुखम् ।
अश्रोत्रगम्यां तदि वाचमुच्चरेत् पश्यन्त्यसौ प्राणहिता हि वागियम् ॥२७९॥
कर्णे यदा किञ्चिदयं प्रजल्पति श्रोत्रेण शब्दः परिगृह्यतेऽन्तिके ।
ध्वनिर्न चेद् वायुहिता हि सा मता वाङ्मध्यमा नाम तदा स्फुटास्फुटा॥२८०॥
सा वैखरी वागिह नाम कथ्यते ध्वनिस्फुटव्यक्तकृताक्षरोदया ।
तामेव वाचं पशुपक्षिमानवा वदन्ति वर्णैरकृतां कृतामपि ॥२८१॥
वागुच्यते सा खमिदं ततोऽखिलं व्याप्तं समन्तादपि याऽनिलादणुः ।
आघाततो यत्र चतुर्दिशानुगा वीचिः श्रुतिं प्राप्य धियो नियोजयेत् ॥२८२॥
आघातबिन्दोऽपि स वीचिमण्डले सम्पद्यमानः परियाति सर्वतः ।
आहन्यमानावयवैः समन्वयादाघातवैचित्र्यवशाच्च भेदतः ॥२८३॥
यद्वीचिरण्वी महती च मण्डलाकृतिः समन्तात् परिसर्पति द्रुतम् ।
सा वाग्गतिः स्याज्जलवाय्वपेक्षया वागिष्यतेऽसौ द्रुतगामिनी सदा ॥२८४॥
आहुः परे नास्ति गतिस्तु शब्देष्विन्द्रो मरुत्वान् प्रकरोति वीचिम् ।
तदाहितोऽसौ प्लवतेऽन्यदेशान् न यत्र वायुर्न हि यत्र शब्दः ॥२८५॥
मनस्तु वाचः पृथगेव शब्दो नैन्द्री हि वागिन्द्रविशेषरूपा ।
शब्दस्तु वाचश्चलनेन वायोः श्रोत्रेण संयोगकृतोऽस्ति नादः ॥२८६॥
आघातकाले गमनेऽपि वाचो न तत्र वायुर्यदि संयुनक्ति ।
वायौ न कम्पो न च कर्णदेशे वाग्विन्द्रयोगा इति नास्ति शब्दः ॥२८७॥
यद्वापि वागिन्द्रविशेषरूपा विभ्वी हि सा नास्ति गतिस्तु तस्याम् ।
प्राणस्य गत्या पयसीव वायौ वीचिः स कर्णे प्रहतोऽस्ति नादः ॥२८८॥
न तत्र गन्धो न रसो न दृश्यते न स्पृश्यतेऽसौ न च हीयते क्वचित् ।
वागेव वाय्वादिविकारभाविता स्पर्शादिभिस्तैः क्रमशोऽनुबुध्यते ॥२८९॥
अथो न या वाक् पुरुषप्रयत्नतः प्रजायते या स्वयमस्ति नित्यदा ।
यया च वाचा पुरुषः स्वरूपवानपौरुषेयी प्रतिपद्यते हि सा ॥२९०॥
अपौरुषेयीं त्रिविधा विधीयते परा च या स्यादवरा क्षरा च या ।
परावरेति द्विविधाऽमृताऽक्षरा, क्षरा तु मर्त्या पृथगिष्यते ततः ॥२९१॥

या तावदों खेऽस्ति परा हि सा मता पुराणखे वागिह याथ साऽवरा ।
या वायुरं खे वितते वितायते सा वाक् क्षरा तामप आह वारपि ॥२९२॥
परैव सेयं परतो द्विधा वाक् स्यादक्षराग्निर्हि ततः क्षराऽऽपः ।
संभूय चान्योन्यमियं द्विधा वाक् प्राणे प्रसृष्टिर्भवतीह सर्वा ॥२९३॥
प्राणोऽग्निरुक्तो मनसा चितोऽयं चिते पुनः प्राणमये तदग्नौ ।
निधीयते योऽग्निरियं हि सा वाक् स्यादक्षराऽन्या तु ततः क्षरा स्यात् ॥२९४
प्रतिष्ठितोऽप्सु प्रथमः स तेजो रसोऽग्निरात्मा विहितस्त्रिधायम् ।
तस्यान्य आत्मायमभूत् परस्तात् संवत्सरोऽग्निर्भवतीह सा वाक् ॥२९५॥
तेनात्मना चाथ तयैव वाचा सृष्टं समस्तं यदिदं क्वचास्ति ।
ऋचश्च सामानि यजूंषि यज्ञाश्छन्दांसि चाथो पशवः प्रजाश्च ॥२९६॥
परा हि सा वाक् विहिता त्रिभेदा ऋचश्च सामानि यजूंषि चेति ।
वेदत्रयी सा प्रथते तदेनां प्राणाहितां सर्वगतां प्रतीयात् ॥२९७॥
अन्वाहिता वाथ विभास्वती वा प्रसंहिता वाप्यधिवाहिता वा ।
प्राणाहिता पञ्चविधा तदित्थं त्रयी निरुक्ता प्रतिपत्तिभेदात् ॥२९८॥
अन्वाहिता प्रज्ञगता त्रयीयं सूर्य्यादितेजस्सु विभास्वती सा ।
प्रजापतौ स्यादिह संहिताख्या वाक्प्राणयोरप्यधिवाहिता स्यात् ॥२९९॥
भौमं तु तेजः किल ऋग् बहिर्धा यजुर्द्वितीयं किल चान्द्रतेजः ।
मुख्यं रवेस्तेज इहास्ति सामेत्यन्वाहिता प्रज्ञगता निरुक्ता ॥३००॥
अथ त्रयी भास्वति भास्वतीयं यन्मण्डलं पश्यसि ता ऋचः स्युः ।
अर्चिस्तु सामानि भवन्ति तस्मिंस्तथात्र दृष्टः पुरुषो यजूंषि ॥३०१॥
प्रसंहिता नाम तथा प्रजापतौ त्रयी निविष्टा इह स प्रजापतिः ।
संवत्सरश्चान्द्रमसो निरुच्यते य एष भूतेष्वखिलेषु विद्यते ॥३०२॥
संवत्सरे सप्तशतानि विंशतिर्ज्योतींष्यहोरात्रकृतानि सन्ति हि ।
ता इष्टकाः स्युस्तु परिश्रितो यजुष्मत्यश्च राजयस्तदहानि च क्रमात् ॥३०३॥
व्यूहे चतुर्विंशतिधा तदात्मनः स्युरिष्टकास्त्रिंशदिहैकराशिगाः ।
तासां पुनः पञ्चदशैव रात्रयस्तावन्त्यहानीति स चार्द्धमासकः ॥३०४॥
अह्नश्च रात्रेः पृथगासते पुना रूपाण्यथो पञ्चदशैव तेन च ।
क्लृप्ताः सहस्राणि दशाष्ट वा शतान्यस्मिन् मुहूर्त्ता अपि चैकवासरे ॥३०५॥

संवत्सरश्चान्द्रमसः प्रजापतिः स तैर्मुहूर्त्तैः कृतविग्रहः स्थितः ।
वेदत्रयस्याखिलभूतविग्रहान् व्याप्नोति वेदत्रयसंस्कृतात्मना ॥३०६॥
अधित्रिविद्यं निखिलानि भूतान्यन्तर्निविष्टानि हि तत्र तेषाम् ।
स्तौम्यस्तथा छान्दस एष देवः प्राणी य आत्मापि च संनिधत्ते ॥३०७॥
छन्दोमयः स्तोममयश्च देवतामयस्तथा प्राणमयश्य सोऽपरः ।
आत्याखिलानामिह वर्तते यतो विद्यात्रयीस्थानि मतानि तान्यतः ॥३०८॥
तदस्ति लोके खलु यद्धि विद्या त्रयीप्रतिष्ठं तदिहामृतं च ।
यच्चामृतं तत्पुनरस्ति शब्दं विद्यात् तदेवं निखिलं हि मर्त्यम् ॥३०९॥
सर्वस्य भूतस्य तदित्थमस्मिन् वेदत्रये यन्निहितोऽयमात्मा ।
प्रजापतिश्चापि ततोऽखिलेऽस्मिन् व्याप्नोति वेदत्रयतः कृतात्मा ॥३१०॥
वेदास्त्रयःस्युर्बृहती सहस्रैर्म्मिताः प्रजापत्यभिसृष्टरूपाः ।
चत्वारि सामानि यजूंषि चाष्टावृचस्तथा द्वादश तानि विद्यात् ॥३११॥
चत्वारि लक्षाण्ययुतत्रयं स्यात् ततः सहस्रद्वयमित्यृचः स्युः ।
लक्षद्वयं स्यादयुताष्टकं स्यादष्टौ सहस्राणि यजूंषि च स्युः ॥३१२॥
सामानि तत्रार्द्धयजूंषि चेत्थं वेदास्त्रयः संकलिता इह स्युः ।
अष्टौ च लक्षाण्ययुतानि षड् वा चतुःसहस्रोपगतानि चेति ॥३१३॥
या वा ऋचस्तत्र शतानि चाष्टाशतं विविष्टाः किल पङ्क्तयः स्युः ।
अथो यजुःसामसु चोभयेषु शतानि चाष्टाशतमेव ताः स्युः ॥३१४॥
त्रयस्तु वेदा इह ये निरुक्ता अशीतयस्तत्र शतानि चाष्टौ ।
तथा सहस्राणि दशेति कृत्वा सोऽशीतिमाप्नोति मुहूर्त्तमात्रः ॥३१५॥
मुहूर्त्तकान् पञ्चदशानुकृत्वाऽशीतीस्तथा पञ्चदशात्मनिष्ठाः ।
प्रजापतिर्वत्सर एवमेतां विद्यां त्रयीमात्मनि चावपत् सः ॥३१६॥
संवत्सरेऽत्रैव च सर्वभूतस्यात्माऽभवत् स्तोममयस्तथा च ।
छन्दोमयः प्राणमयश्च देवमयस्ततोऽभूदपि सोऽखिलात्मा ॥३१७॥
ऊर्ध्वः स एतन्मय एव भूत्वोदक्रामदेषोऽभवदेष चन्द्रः ।
तस्य प्रतिष्ठा तपतीह योऽयं ततोऽयमागादपि याति चास्मिन् ॥३१८॥
अयं त्रयी स्यादधिवाहिता पराऽध्यूढं हि सामर्चि यथात्र गीयते ।
प्राणस्तथा वाचि सदा प्रवर्ततेऽध्यूढस्ततः प्राणमुशन्ति सामवत् ॥३१९॥

ऋगस्ति पृथ्वीह च साम सोऽग्निर्ऋगन्तरिक्षं खलु साम वायुः ।
ऋग्द्यौरथादित्य इहास्ति साम, नक्षत्रमृक् तत्र च साम चन्द्रः ॥३२०॥
एवं हि सर्वत्र यदेव यत्राध्यूढं तदृक् तत्र च साम तत् स्यात् ।
यदन्यदस्मिन् प्रतिपद्यतेऽन्तः किमप्यदस्तत्र यजुः प्रतीयात् ॥३२१॥
यद्वैष यत् वायुरदोऽन्तरिक्षं जूर्य्यंच्च जूश्चेत्युभयं यजुः स्यात् ।
साग्निस्तु पृथ्वी यजुरिष्यते द्यौरादित्ययुक्ता यजुरित्थमन्ये ॥३२२॥
आभ्यो विभिन्ना भवति त्रयी या प्राणाहितां तामखिलां प्रतीयात् ।
प्रत्यर्थमेषा परिदृश्यते तां सूर्य्ये गतां तावदुदाहरामः ॥३२३॥
यः पूरुषः सिध्यति सप्तपूरुषः प्रजापतिः सोऽसृजत प्रजा इमाः ।
सृष्ट्वा प्रजा उत्क्रमते स ऊर्ध्वतोऽथाग्निस्तु तत्स्थानमुपैति संदधत् ॥३२४॥
विस्रंसते ह्यन्तरतः प्रजापतिर्विस्रस्तमध्यस्य रसोऽग्रमीयते ।
स एव सोऽग्निर्य इहैष चीयते वागग्निरत्रैव चिते निधीयते ॥३२५॥
तस्यास्य योऽयं स रसोऽग्रमागान्महत्तदुक्थं प्रतिपादयन्ति ।
आख्यायते तन्महत्तदुक्थमस्मिन्नशीतिभिश्चावपनं यदस्मिन् ॥३२६॥
दिवं प्रयातीह महत्तदुक्थं यात्यन्तरिक्षं तु महाव्रतं तत् ।
अग्निस्त्विमं लोकमुपैति नित्यं धृताः सहैते त्रय एव लोकाः ॥३२७॥
सर्वाणि सामानि महाव्रतं स्यात् सर्वा ऋचस्ता महदुक्थमेतत् ।
यजूंषि सर्वाणि मतानि सोऽग्निस्तैरन्तरेणेह न चास्ति किञ्चित् ॥३२८॥
ऋचो महोक्थं तु महाव्रतं तु सामानि तत्राग्निरयं यजूंषि ।
त्रय्येव विद्या तपतीह सैषा वागेव सादित्य इति ब्रुवन्ति ॥३२९॥
यन्मण्डलं तन्महदुक्थमाहुस्ता वा ऋचः सन्ति ऋचां स लोकः ।
यद्दीप्यतेऽर्चिस्तु महाव्रतं तत् सा भाति तान्येव स सामलोकः ॥३३०॥
यन्मण्डलेऽस्मिन् पुरुषोऽस्ति सोऽग्निर्यजूंषि च स्युर्यजुषां स लोकः ।
द्वयोः प्रतिष्ठा पुरुषार्चिषोः स्यात् तन्मन्डलं द्वे यजुषि स्थिते स्तः ॥३३१॥
त्रयः समुद्रा इह सुप्रसिद्धा ऋचां महोक्थं यजुषां तु सोऽग्निः ।
साम्नां समुद्रस्तु महाव्रतं स्यादन्तःसमुद्रं तपतीह सूर्य्यः ॥३३२॥
य एष वायुर्यदु चान्तरिक्षं तद्यच्च जूश्चेत्युभयं यजुः स्यात् ।
स वायुरेवाग्निरिति प्रपन्नाः सन्तीह शाकायनिनः परेऽपि ॥३३३॥

आदित्य एवाग्निरितीह केचित् स वायुरेवाग्निरितीह कश्चित् ।
संवत्सरोऽग्निर्न तदन्य इत्थं शाकायनिः प्राह तदेव सम्यक् ॥३३४॥
ऋक्सामयोरस्ति यजुः प्रतिष्ठितं द्वे चापि ते तद्वहतो यजुर्ध्रुवम् ।
अनुक्षणं नाभित उत्थितो रसो नेम्यन्तमागत्य वियाति वीचिवत् ॥३३५॥
यावत् त्रयीयं क्रमते तदों खं न चैतदोमक्षरतोऽतिरिच्य ।
भवन्ति वेदा अथ योऽस्ति वेदे स एव चास्तीत्यखिलं तदोंस्थम् ॥३३६॥
ओमेव सर्वं यदिहास्ति किञ्चित् तत्र स्थितं सत् प्रतिपद्यते हि ।
प्रत्यर्थभेदादिमों विभिन्नं बिम्बे तदेकं तु महेश्वराख्यम् ॥३३७॥
अथावरा वाग् भवति क्षरायां यां व्याहृतिं नाम सतो वदन्ति ।
तेजस्तथापोऽन्नमिति त्रयः स्युः सतो विवर्त्ता इह भूर्भुवः स्वः ॥३३८॥
या वाग् विकारे प्रथमा च सूक्ष्मा या चोर्ध्वगास्याद्विकलांगरूपा ।
तेजस्तदिष्टं यदिदं स्वरेति स्वभावतो व्याह्रियते भुवस्तत् ॥३३९॥
अपां शरो यः समहन्यताग्रे तदन्तमुक्तं पृथुतां तदागात् ।
पतत्स्वभावं निबिड़ाङ्गरूपं घनीभवद् व्याह्रियते हि तद्भूः ॥३४०॥
तिस्रस्त्विमा व्याहृतयो निरूपिताः सप्तान्यथा व्याहृतयो भवन्त्यतः ।
तासां द्विधोत्पत्तिविधां प्रचक्षते परीक्षतां तत्र यथार्थतां पुनः ॥३४१॥
तेजस्तथाऽपोऽन्नमितित्रयं यत् तत्रान्त्यमन्नं हि पुनस्त्रिधाऽभूत् ।
इत्थं हि सप्तस्वपि चोत्तरोत्तरं स्थौल्यं क्रमेण प्रबभूव वर्द्धितम् ॥३४२॥
क्षणाणि तानीह रजांसि चक्षते तेभ्यो विकाराः प्रभवन्त्यनेकशः ।
अन्ये पुनस्त्वाहुरथान्यथैव तेजस्तथापोऽन्नमिति त्रयं यत् ॥३४३॥
तदेव संसृज्य विशिष्टमात्रं ता व्याहृतीः सप्त करोति बन्धात् ।
ज्ञातेजसः पञ्च यदाप एकवत् , प्राणश्चतुस्तैजसमब्द्वयं यदि ॥३४४॥
तेजस्त्रयं चाब्द्वयमन्नमेकवत् सा वाक् , स वायुर्यदि ते दिशोद्विशः ।
तेजो यदेकं यदपां द्वयं स्यादन्नत्रयं तेज उदाहृतं तत् ॥३४५॥
जलं द्विधापोऽन्नचतुष्टयं चेत् पञ्चान्नमेकापमिति क्षितिः स्यात् ।
आद्यद्वये त्वन्नमनन्वितं स्यादन्त्यद्वयेऽनन्वितमस्ति तेजः ॥३४६॥
रूपेपु चपां त्रिपु मध्यमेपु त्रयं त्रयं तच्च समन्वितं स्यात् ।
सन्तानिताः सप्तसु तावदापस्तस्मादिमाः सप्त मता इहापः ॥३४७॥

मात्रापरिच्छिन्नमिदं यदेषां रूपं ततस्तानि रजांसि चाहुः ।
तेजस्तथापोऽन्नमिति त्रयं यजू ज्ञा प्राणभूतानि च सप्त यानि ॥३४८॥

वाचः क्षरास्ता अथ चाक्षराः स्युर्या ह्यत्र ता व्याहृतयोऽवरास्ता ।
रसे बलानि स्म गतानि बन्धं वाचो भवन्तीति च बन्धनेऽस्मिन् ॥३४९॥

छन्दो यथा स्यात् स इहास्ति लोको लोका इमे व्याहृतयः प्रदिष्टाः ।
ज्ञाप्राणवाग्वायव एव तेजो जलं च पृथ्वीति पृथग् गृहीताः ॥३५०॥

छन्दोवशादेव भवन्ति तस्माच्छन्दोऽनुगो लोक इहोदिता वाक् ।
सत्यं तपश्चाथ जनो महः स्वर्भुवश्च भूश्चेति हि सप्त लोकाः ॥३५१॥

बन्धस्वरूपप्रणिधायकास्ते पश्यामि तेष्वेव रजांसि तानि ।
प्राणो हि वायुत्वमुपैति, वायुः प्राणत्वमायाति, जलं च मृत् स्यात् ॥३५२॥

तत्र स्वलोकाच्च्यवतेऽथ लोकान्तरं तदेतीति भवेत् प्रतीतिः ।
यत् पौरुषेय्यां यदि क्षरायां यच्चावरायां क्वच किञ्चिदुक्तम् ॥३५३॥

तल्लक्षितं वाच्यखिलं परायां वागाम्भृणी वाङ्मुखतो यथाह ।
अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ॥३५४॥

अहं मित्रावरुणो भाविभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ।
अहं सोममहानसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ॥३५५॥

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ॥३५६॥

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्य्या वेशयन्तीम् ।
मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं श्रृणोत्युक्तम् ॥३५७॥

अमन्तवोमां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ।
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ॥३५८॥

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।
अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ ॥३५९॥
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ।
अहं सुवे पितरमस्य मूर्द्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ॥३६०॥

ततो वितिष्ठे भुवना नु विश्वोतामूं द्यां दर्ष्मणो पस्पृशामि ।
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।।३६१।।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव ।

ऋक् सं० १०।१२५ ।

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था द्यावापृथिवी तावदित् तत् ।

(ऐ० आ० पृ० ९१)

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥

ऋ० सं० मं० १०। सू० ११४ । ऋ०,

(अतः परमत्तरानुवाकः त्तरानुवाकश्च नोपलभ्यते ।)

॥ श्रीः ॥

ओं तत्सत्

अथ गद्यमयनिर्विशेषः—

ब्रह्म ते प्रब्रवाणि । ब्रह्मैवेदं सर्वं प्रजापतिर्नाम । स द्विविधः प्रतिपत्तव्यः । परोरजाश्च भोक्ता च । तत्रैतेऽनन्ताः प्रजापतयो ये भोक्तारः । तेषामयमेकोऽतिष्ठावा यः परोरजा नाम । तेषामयमेकैकः प्रजापतिर्द्वेधा विभक्तो द्रष्टव्यः । आत्मा शरीरं चेति । यावानयं बहिर्द्धा भूतभौतिकपिण्डस्तच्छरीरम् । तदधिष्ठाता तद्विधरणस्तन्नियन्ता तदन्तर्बहिः सर्वतोऽभिव्याप्त आत्मा । सोऽयमात्मा चतुष्पात् । निर्विशेषः, परात्परः, पुरुषः, पुरं चेति । पुरमेवेदमेकैकं पुरुषेणान्तर्बहिः सर्वतोऽभिव्याप्तं पुरुषेणाधिष्ठितं पुरुषप्रभवं भवतीति पुरुष एवेदं सर्वम् । अपि च पुरुष एवेदमेकैकं परात्परेणैकीभूतं परात्परविवर्तरूपं भवतीति परात्पर एवेदं सर्वम् । परात्परश्चायं निर्विशेष एवान्तत उपपद्यत इति निर्विशेष एवेदं सर्वम् । एतमेव निर्विशेषं लक्षयन्तीमे सर्वे वेदान्ताः ।

निर्विशेषस्यो द्वे रूपे—अमृतं मृत्युश्च । अविनाशी वा अनुच्छित्तिधर्मा शाश्वतिकोऽखण्डोऽभयो भूमा रसोऽमृतम् । स नास्ति नास्तीत्यमृतं नाम । अखण्डतया द्वित्त्वादिसंख्या नोपपद्यते इत्यद्वैतम् । अवकाशाभावादविचाली चाकम्पनश्चेत्यभयम् । स इत्थं तटस्थलक्षणसत्वेऽपि स्वरूपलक्षणाभावादनिर्वचनीयः ।

अथैतस्मिन्नमृते रसेऽनवरतमनन्तविधान्यनन्तानि धर्माण्युत्पद्योत्पद्य विलीयन्ते तत्र मृत्युशब्दः । तदिदमुत्पद्यमानं स्वावच्छेदेन रसमावेष्टते । रसावेष्टकत्वात् तत्र बलशब्दः । पूर्वमसत् पश्चाच्चासदिदं बलं रसे निसर्गादुद्भवत् तं रसमात्मानं कृत्वा मध्यतः सत् प्रतिपद्यते ।···

तदाह—

"असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयम-

कुरुत तस्मात् तत् सुकृतमुच्यतेय द्वै तत् सुकृतं रसो वै सः" इति रसे-नात्मान्विभूत्वा इति ।

स्वयमेतद् रस एवाभूदिति तादात्म्यात्सुकृतशब्दः । रसः सत्ता । द्वे सत्ते द्वैतम् । न चात्र द्वे सत्ते । रसेनैव सत्तावत्त्वाद् रसनिरपेक्षं बलस्ये-दानीमप्यसत्त्वात् । तस्मात् सत्यपि बले न द्वैतापत्तिः । यत्पुनरिहानुभूयते सर्वत्र द्वैतं तन्मृत्योर्मृत्युसापेक्षम् । मृत्यूनां परिच्छिन्नपरिमाणतया सावकाश-त्वादनन्तानां मृत्यूनां परस्परभिन्नत्वोपपत्तेः । तदुक्तम्—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । इति । नानात्वं पश्यतो दृष्टिर्भवति न तु रसबलाभ्यां द्वैतमुप-पद्यते इत्यर्थः । अपि चान्योऽर्थो द्रष्टव्यः । यो जीवात्मा नानेह पश्यति स नानात्वस्य मृत्युमूलकत्वान्मृत्युप्रतिष्ठितो भवतीति कृत्वा शरीरादुत्-क्रान्तोऽपि मृत्युमेव प्रतिपद्यते नामृतम् । अन्ते मतिः सा गतिरित्यार्ष-सिद्धान्तात् ।

अनन्यप्रयुक्त एवैष मृत्युरिहामृतेऽनवरतमाविर्भवतीत्यन्योन्याविना-भूतमिदमेकमेव मृत्युमयममृतं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । अमृतालम्बितः स मृत्युरमृतव्यतिरेकेण गृहीतशून्यम् । तथाचायं कथममृतमालम्बते कथ-मुत्पद्य विनश्यतीत्येतत्सर्वं ज्ञातुं निर्वक्तुं चाशक्यमित्ययं मृत्युरप्यज्ञेयोऽ-निर्वचनीयश्च ।

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥

इत्येवममृतेन मृत्योर्निरुच्यमानोऽपि सम्बन्धो न यथावच्छक्यं ग्रहीतुमित्यनिर्वचनीयो भवति ॥ अनिर्वचनीयोऽपि यावच्छक्यं निर्वाच्य-स्तयोः सम्बन्ध इत्युच्यते । प्राणनापानने हि मृत्योरमृतेन सम्बन्धः । इमे च द्वे अवस्थे मृत्योरस्य रूपम् । अमृतं गर्भीकृत्य मृत्योः प्रादुर्भावः प्राणनम् । सैकावस्था । तामाह—अन्तरं मृत्योरमृतमिति । मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते इति च । तेनानवरतं विपरिवर्तमानं नानाभेदभिन्नं बलं बलमेव सर्वमिदं सर्वत्र दृश्यते । अथैष मृत्युरमृतस्य गर्भे सुप्तं विलीयमानं

भवतीत्यन्यावस्थाऽपाननम् । तदाह—मृत्यावमृतमाहितमिति । मृत्योरात्मा विवस्वतीति च । तेनैतेषु विपरिवर्तमानेष्वविवर्त्तमानं विनश्यत्स्वविनश्वरमनेकेष्वेकमनुस्यूतं सर्वत्र दृश्यते । अत एवैकस्य नानावस्था जायन्ते ॥

तदित्थं द्वैविध्येन प्रतिपत्तावपीदमुभयमेकैकं निर्विशेषम् । मृत्युनिरपेक्षस्यास्य नानात्वोपपादकहेत्वभावेन विशेषप्रतिपत्त्ययोगात् । रसनिरपेक्षस्य मृत्योः शून्यरूपतया विशेषप्रतिपत्त्ययोगाच्च ।

इति निर्विशेषपरिष्कारः प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अथगद्यमयपरात्परः ।

नामृतं मृत्युना विना कृनं भवतीति मृत्युवैशिष्ट्येन गृहीतेऽस्मिन्नमृते परात्परशब्दः । अव्ययं परमनुवक्ष्यामः । ततोऽपीदं परं भवतीति परात्परं नाम ।

लोके यदिदं किञ्चित् क्वचित् दृश्यते, तत्सर्वं ज्ञायमानत्वाद् वयुनं नाम । वयुनं ज्ञानमित्याहुः । सर्वं हीदं ज्ञायमानं ज्ञानायतनाबहिर्भूतत्वान्न ज्ञानाद्व्यतिरिच्यते तस्माज्ज्ञानाविनाभावात् सर्वमिदं वयुनम् । तदिदमेकैकं द्वेधा विभज्यते—वयश्च वयोनाधश्चेति । वयोनाधश्छन्दः प्राणः । स आकारः, सा संस्था । अथ वयोऽन्नं द्रव्यं यदिदमस्याकारस्यादरतः क्रियते । येन चायमाकारो निरूप्यते । तदिदमुभयं वस्तुनो रूपम् । न चाभ्यां रूपाभ्यां विनैतद्वस्तु निरूप्यते ।

तत्रैतस्य परात्परस्य द्वे रूपे—वयोरूपं—अमृतं मृत्युश्चेति । अमृतस्यान्तरो मृत्युः । मृत्योरन्तरतोऽमृतम् । उभयतोऽमृतेन परिगृहीतो मृत्युरनवरतं म्रियमाणोऽपि न म्रियते । तदिदं मृत्युमयममृतं परात्परस्य वयोरूपं विद्यात् ।

अथैतस्यान्ये द्वे रूपे—वयोनाधरूपम्— भूमा चाणिमा चेति । यस्यासीम्नो बहिर्धावकाशो नास्ति, तदन्तरप्रविष्टा बहिर्धा काचिदन्या सीमा नास्ति, सेयमसीमा भूमा नाम एतं भूमानमन्ये वैदेशिकाः "आप न पिनद्धम्" इति विवक्षमाणाः 'एड इन् पिनिटम्' इत्याचक्षते । श्रूयते चैष ताण्ड्यश्रुतौ—

"यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद् विजानाति संभूमा। यो वै भूमा तदमृतम्। स प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नि इति। अन्योह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति" ॥ "स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स उत्तरतः,स एवेदं सर्वम्"—इति। श्वेताश्वतरोऽप्याह—नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः" इति (श्वेताश्वतरो ४ । १९)।

अथ सोऽणिमा विन्दुर्यस्य परिणाहः परिमाणं शक्तिरस्त्रिर्वा नास्ति तमणिमानमन्ये वैदेशिकाः 'विन्दु' रिति विवक्षमाणाः 'पोइन्ट' इत्याचक्षते सर्वानणिम्नोऽभिसन्धाय तैरयं सगर्भा भूमा परात्परो नाम तत्र क्रोडीकृतत्वान्नैतेऽवच्छेदा भूम्नोऽखण्डत्वमेकत्वं वाऽपहरन्ति। स यथा सौ मृत्यूपहितोऽमृतात्मा निर्विशेषस्तथायं मृत्युविशिष्टः। परात्परोऽपि निरवच्छिन्न एव प्रतिपद्यते। निरवच्छिन्नत्वाच्चैतौ निर्विशेषपरात्परौ विश्वातीतौ भवतः। परिच्छिन्नस्यैवार्थस्य विश्वशब्देन व्यपदेश्यत्वात्। विश्वातीतयोरप्यनयोर्विश्वस्मिन् विभूतिर्नोपहन्यते। सावछिन्ने निरवच्छिन्नस्याव्यावर्तमानत्वात्। तथा चायं परात्परो विश्वस्मिन् भूम्ना चणिम्ना च विभवन् सामान्यविशेषौ भावयतः यदिदं भूतेषु भविष्यत्सु विद्यमानेषु चानन्तेषु पशुषु पशुत्वसामान्यं सोऽयं पश्वाकृत्यवच्छेदेन विभवतो भूम्नः पशुव्यक्तिषु भोगः। ये चेमे भूतेषु भविष्यत्सु विद्यामानेषु चानन्तेषु पशुषु गजत्वाश्वत्वगोत्वादयो विशेषा उत्पद्यन्ते, ते पुनर्गजाद्याकृत्यवच्छेदेन विभवतामणिम्नां भोगो भवति सत्तासामान्यं भूमैव नाणिमा। अन्त्यास्तन्मात्रा विशेषा अणिमान एव न भूमा। अपरे त्वणिमानः सर्वे भूम्नैकी भवन्ति। सर्वा एव जातयो जात्यन्तरापेक्षया सामान्यानि वा स्युर्विशेषा वा। अणिमानश्चैते भूमानश्च। गोत्वापेक्षया पशुत्वं भूमा। चेतनत्वापेक्षया पशुत्वणिमा। अणिमा वा स्याद् भूमा वा, सर्वथापि त्वयमर्थमर्थं प्रति परात्परस्य भोगो द्रष्टव्यः। स्फटिके जपानुरागवत् परात्परस्येदं प्रत्यर्थं विभूतिमात्रं न योगः। अत एवैते पशवो म्रियन्ते न पशुत्वं म्रियते। यत्रापि प्रलयादौ सर्वे जातिव्यवहारा आकृतिव्यवहारा व्यक्तिव्यवहारा विनष्टाः स्युः, तत्रापि नैता जातयो विनष्टाः स्युः। न भूमा विनष्टः स्यात्। अविनाशी वा अरे अयमात्मा

अनुच्छित्तिधर्मा—इति विद्यात् । उभाभ्यां चायमेक एवानुलक्ष्यते परात्परो भूम्ना चाणिम्ना च । यथाह शाण्डिल्यस्ताण्डिश्रुतौ—'एष मे आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष मे आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्याः, ज्यायानन्तरिक्षात्, ज्यायान् दिवो, ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः । एष मे आत्मान्तर्हृदये—"एतद् ब्राह्मी एतमितः प्रत्यभिसंभवितास्मीति" इति ॥ उत्तरोत्तरिता चेह विवक्षिता भूम्नश्चाणिम्नश्च । अणिम्न एवारभ्य यथा यथा भूमानुवर्तते भूम्नश्चारभ्य यथा यथाऽणिमाऽनुवर्तते उभाभ्यामयमेक एवात्माऽनुलक्ष्यते परात्पर एव । एतमेवात्मानमयं मन्त्रोऽपि लक्षयति, "अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति ॥

अयमत्राभिसन्धिः । यावन्मृत्युविशिष्टामृतमेतत् परात्परम् । तत्रामृतनिबन्धनोऽयं भूमा मृत्युनिबन्धनस्त्वयमणिमाऽनुवर्तते । दिग्देशकालेभ्योऽनन्तं हीदममृतम् । अनन्तश्चायं भूमा । संख्यातस्त्वेकममृतम् । एकोऽयं भूमा । अथ दिगादिभिः सान्तो मृत्युः सान्तोऽणिमा । संख्यातस्त्वनन्ता मृत्यवोऽनन्ताश्चैतेऽणिमानः । यद्यमृते भूम्नि मृत्यवो न स्युः कथंतरां तर्हि तत्रैतेऽणिमानोऽनुवर्तेरन् । अखण्डो ह्ययं भूमा । खण्डखण्डास्तु मृत्यवः स्वस्वावच्छेदेन तत्राणिम्नो जनयेत् । अवच्छेदोऽयमणिम्नो मूलम् । अवच्छेदभङ्गात्त्वयमत्र भूमा रजकधौतेऽम्बरे शुक्ल एव सन्नेवाविर्भवति । स यदि परात्परं जानाति, सहैव सोऽणिमानं भूमानं चावगाहते । अणिम्नां भूम्नश्चाभेदः प्रतिपद्यते । स खलु सैन्ये पदातीनिव वने वृक्षानिवैतानणिम्नो भूम्न्यभेदेनाञ्जसा परिगृह्णीयात् न विरोधं मन्येत । किन्त्वणिम्नि भूमानमभेदेन परिगृह्णन्तः सामञ्जस्यविरोधादभेदाभिमानदार्ढ्याच्चाणिम्नो निरूपका अवच्छेदाः स्वतो बुद्धौ निवर्तेरन् । निवृत्तद्वैते परात्परे नामात्मनि प्रतिष्ठा स्यात् । तदेतदाह—'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतीति ।' अवच्छेदानपश्यतोऽमुष्याद्वैतेऽन्नखण्डेऽमृतेऽभिनिष्ठानमेवायमस्य मृत्योरत्ययः प्रतिपत्तव्यः ॥

इति परात्परपरिष्कारो द्वितीयः खण्डः ।

अथ गद्यमय अव्ययपुरुषः ।

चतुर्षु ब्रह्मपादेषु द्वौ विश्वातीतौ व्याख्यातौ । अथ द्वौ विश्वरूपं, तदतो व्याख्यास्यामः । दिग्देशकालतोऽनन्तं ह्रीदममृतं संख्यानतोऽनन्तैरनन्तविधैश्च मृत्युभिरुपपद्यमानं सदेकं परात्परं नाम ब्रह्मेत्याख्यातम् । तत्रैते क्षुद्रातिक्षुद्रा वा महान्तोऽतिमहान्तो वाऽनवशेषा मृत्यवोऽन्योन्यतः सहचरभावेनानुवर्तन्ते । नैकोऽन्येन निगृह्यते विगृह्यते वा परिगृह्यतेऽनुगृह्यते वा । एतावदवस्थस्य परात्परसंज्ञा भवति ॥

अथानवच्छेदे यतोऽवच्छेदो निष्पद्यते स मृत्युविशेषो मितिसाधनत्वान्माया नाम । सोऽयमतिष्ठा वा मृत्युः सर्वानन्यान्मृत्यूनात्मसात्कुर्वन् आत्मनो हृदये निबध्नाति । सोऽयमेषां हृद्ग्रन्थिर्नामबन्धो व्यपदिश्यते, माया हृद्ग्रन्थिबद्धाश्चैते कतिचित् मृत्यवोऽनवरतमुच्छिद्यमाना अपि हृद्ग्रन्थिबन्धे रसानुग्रहात् प्रतिष्ठिता न च्यवन्ते । धारावाहिकतया संतायमानाश्चिरमेकरूपास्तिष्ठन्तः प्रतिभासन्ते । अत एवैते सूर्यचन्द्रपृथिव्यादयः प्राणिशरीरादयश्च पिण्डा अनवरतं म्रियमाणाश्चाम्रियमाणाश्चेति कृत्वा विपरिवर्तमाना जीवन्ति । सोऽयमेवंविधो मायावच्छिन्नो रसः पुरुषो नाम प्रतिपत्तव्यः । मायावच्छिन्नत्वाद् दिग्देशकालसंख्यावच्छिन्नो ह्ययं पुरुषोऽनवच्छिन्नात् खल्वमुष्मात् परात्पराद् व्यतिरिच्यते । एक एवायं परात्पर उपपद्यते । पुरुषास्तु मायावच्छिन्ना मायामृत्यूनामानन्त्यात् संख्यातोऽनन्ता इष्यन्ते । तेषां चानन्तानां पुरुषाणामयमेकैकः पुरुषो महतो महान् प्रतिपत्तव्यः । विश्वसाक्षिण्यादिपुरुषे तस्मिन् यस्तावदेकैकस्य विश्वस्य साक्षी भवति । स आदिपुरुषो नाम व्यपदिश्यते । पुनरनन्ताः पुरुषादहरहरा अणोरणीयांश्चोत्पद्यमाना अन्तर्भवन्ति । तेषामशेषाणामन्तः पुरुषाणामयमेक एवादिपुरुषः प्रभवश्च भवति प्रतिष्ठा च परायणं च । आदिपुरुषस्यैव रसमादायादायोत्पद्यन्ते । तदाश्रयेण जीवन्ति तमेव प्रयन्तोऽभिसंविशन्ति । तादात्म्याच्च तदभिन्ना इष्यन्ते । अत एवाह भगवान् वेदपुरुषः – "अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः" इति ।

केचित्तु परमं द्यौः शरीरमिति धामत्रयभेदेन त्रेधा विभक्तमेतं पुरुषं

पश्यन्ति । तेषां त्रेधा व्यपदेशा इष्यन्ते – ओमिति परमपुरुषः । अहरिति दिव्यपुरुषः । अहमिति शारीरः पुरुषः परमयोनिः कः परमान्तः प्रविष्टः परमाभिन्नो दिव्यः । दिव्ययोनिको दिव्यान्तः प्रविष्टो दिव्याभिन्नः शारीरः । आह च दिव्यशारीरयोरन्योन्यप्रतिष्ठाम् । "सत्यं ब्रह्म । तद्यत् तत्सत्यम् – असौ स आदित्यः । य एष एतस्मिन् । मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन, पुरुषः – तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ । रश्मिभिर्वा एषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः । प्राणै रसममुष्मिन् । य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः – तस्योपनिषदहरिति । अथ योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः – तस्योपनिषदहमिति ॥ (शत० १४।६।८) ॥

सोऽयं विश्वसाक्षीनामादिपुरुषा वा तदन्तः प्रविष्टा दिव्यपुरुषा वा, तदन्तः प्रविष्टाः शारीरपुरुषा वा – सर्वे त्रैधातव्या इष्यन्ते । अव्ययः, अक्षरः, क्षरश्चेत्येते त्रयो धातवोऽन्योन्यतोऽविनाभूताः स एकैकः पुरुषः । समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्त इति लौकिकन्यायात् पूर्वे पञ्चाला उत्तरे पञ्चाला इत्यादिवदेतेषु त्रिपु धातुष्वप्ययं पुरुषशब्दोऽनुवर्तते । तेन त्रयः पुरुषा इतरेतरसंपरिष्वक्ता अयमेकैकः पुरुषः प्रपित्तव्यः ।

मायावच्छेदावच्छिन्नोऽस्मिन्नमृते तावन्मनः शब्दः तत्र मायायां मनस्यनन्ता मृत्यवो हृदग्रन्थिबद्धा उत्पद्योत्पद्यानवरतमुपचीयमाना भवन्ति । द्विविधाश्चैते मृत्यव उपपद्यन्ते – बन्धसाक्षिणश्च मुक्तिसाक्षिणश्च । केचन मृत्यवोऽन्योन्यं संसृज्यन्ते परस्परेण बध्यन्ते । अपरे पुनः केचिदेषां सृष्टानां बद्धानामुद्बन्धनाधबन्धनमुक्तये । प्रवर्तन्ते । उभयविधा अपीमे मृत्यवोऽस्यां मायायां मनसि चीयन्ते । तत्र बन्धनवृत्तीनां सृष्टिसाक्षिणां मृत्यूनामस्मिन् मनस्युपधानं बहिश्चितिर्नाम । उद्बन्धनवृत्तीनां मुक्तिसाक्षिणां तु मृत्यूनामुपधानमन्तश्चितिर्नाम । प्रत्येकं चेमे चिती द्वेधा भवतः । अन्तश्चितौ तावत् नात्युद्बन्धनसिद्धं रूपं विज्ञानम् । आत्यन्तिकोद्बन्धनसिद्धं रूपं प्राणः । आत्यन्तिकबन्धनसिद्धं रूपं वाक् । अन्तश्चितिबहिश्चित्योः समीकरणं रूपं मनः । तथा च – 'आनन्दो विज्ञानं मनः प्राणो वागिति पञ्चकलं रूपमयमेकोऽव्ययः पुरुषः सिद्धो भवति । तत्र मनो विज्ञानमानन्द इत्येतै रूपैरुपलक्षितोऽयमव्ययो मुक्तिसाक्षी । मः, प्राणो वागित्येतै रूपैरूपलक्षित-

स्त्वयमव्ययः सृष्टिसाक्षी । मन एवेदमुभयोर्हेतुः । स्मरन्ति च--

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप ।
"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" ॥ इति ॥

त इमेऽव्ययभागाः पञ्च कोशाः संभवन्ति। पञ्च जातीया एव तु मृत्यवोऽनवरतं यत्र तत्रोत्पद्यन्ते। ते चैतेभ्य एव तु पञ्च कोशेभ्यः समुत्पन्ना एष्वेव संविभज्य प्रतितिष्ठन्ति । सर्वविधा एवानन्दाः सर्वेऽव्ययस्यानन्दमय-कोशे निधीयन्ते नातो बहिर्धा क्वचिदुपपद्यन्ते । एवं सर्वाणि सर्वविधानि विज्ञानानि विज्ञानमयकोशे । सर्वविधानि मनांसि मनोमयकोशे । सर्वविधाः प्राणाः प्राणमयकोशे । सर्वविधा अप्येते भूतभौतिकसंघाता वाङ्मयकोशे प्रतिष्ठिता द्रष्टव्याः । अत एवैष पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः सर्वेषामेषां जगदर्थ-जातानां परमालम्बनमाख्यायते। तत्रापि सर्वे सृष्टिरूपा भूतभावास्त्रिष्वेवायत-नेष्वन्ते प्राणे मनसि चालम्बिताः सन्ति । सर्वे च मुक्तिकृतो दिव्यभावा-स्त्रिष्वायतनेष्वानन्दे विज्ञाने मनसि चालम्बिताः सन्तीत्येतदेवाव्ययं सर्वा-लम्बनं प्रतीयात्। तथा च श्रूयते –

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥"

श्रेष्ठमिति विश्वोपपादकवाक् प्राणापेक्षम्। परमिति विश्वबन्धमोचक-विज्ञानानन्दसापेक्षम् । विभक्तसाधनत्वज्ञानपूर्वकत्वं ज्ञात्वेत्यस्यार्थः । भौमं वा मोक्षं वेत्ति यो यदिच्छतीत्यस्यार्थः। साधनभूतौ वाक्प्राणौ मनसोपासमान-स्य सृष्टिभोगमिच्छतो भूतभावसंतानो जायते। अथ मोक्षमिच्छतस्तत्साधन-भूतं विज्ञानमानन्दं च मनसा समाराधयतो दिव्यभावाविर्भावः सम्पद्यते इत्यभिप्रायः ।

अपि च एतेषु पञ्चसु कोशेषु आनन्दस्य यावती मात्रा तावदेवास्मिन् पुरुषे आनन्दमनु विज्ञानमुद्बुद्धं भवति । यावती च विज्ञानस्य मात्रा तावदेवास्य मनो विज्ञानमनुसम्पद्यते । मन एव त्वस्य पुरुषस्य पुरुषत्वम् । मनो हि सर्वविधानां प्राणानामुत्पत्तिक्षेत्रम्। संकल्पः काम इच्छाऽस्य मनसो महिमा वैश्वरूप्यम् । संकल्पमहिम्ना वैज्ञानिका वा बन्धनीया वा प्राणा यथेच्छं मनसः क्षेत्रादुत्पद्यन्ते । पापीयसः श्रेयसो वा प्राणानुत्पादयन्नेष

पुरुषः खल्वयं हीयान् वा भवति वसीयान् वा । तत्रोत्पद्यमानानां प्राणानां प्रकारवैचित्र्ये प्रवृत्तौ स्तम्भे निवृत्तौ वा कर्म्मैवात्र पूर्वसिद्धं हेतुः । कर्म्मविपया वक्ष्यन्ते । कर्म्मविशेपप्रतिवन्धादेव तु संकल्पयतः कामयमानस्येच्छतश्च मनसस्ते प्राणा इच्छानुरूपं प्रायेण नोत्पद्यन्ते चान्वीक्ष्यम् ।

सूर्य्यो वा पृथ्वी वा चन्द्रो वा प्राणिविग्रहो वा सर्वोऽप्ययमेकैकः पृथगिवाव्ययो नाम पञ्चकोशमयः पुरुषः । एकैकमव्ययमेवाभिपश्यन्निदमिदमस्तीति प्रतिपद्यन्ते लोकाः । सर्वेऽप्यमी क्षुद्रा महान्तो वाऽवरेल्यया विश्वसाक्षिणः प्रतीके परमाव्यये नित्यमन्वाभक्ताः स्वरूपं दधते तमुपजीवन्तीति विद्यात् ॥

एतस्य चाव्ययस्यैतस्मिन् विश्वस्मिन् द्वादशधाऽनुग्रहो भवति । यथोक्तं गीतोपनिपदि—

"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥" इति ॥

अव्ययमुद्देश्यं विधेयान्यन्यानि ॥ तत्र गतिः प्रलययोर्निवासशरणस्थाननिधानानां भतृप्रभ्वोः प्रभवबीजयोरैकार्थ्येऽप्यवच्छेदभेदादपौनरुक्त्यम् मनोऽवच्छेदेन तावत् प्रभवः, प्रलयस्थानं साक्षी चेति वक्तव्यम् । मनसो हि वाक्प्राणौ सविकारौ प्रादुर्भवतः । तदाश्रयेण प्रतितिष्ठितः, तत्रैव चान्ते प्रलीयते । अथैतन्मनोवाक्प्राणाभ्यां सृष्टिसाक्षिभूत्वा विज्ञानानन्दाभ्यां मुक्तिसाक्षि भवति । तस्मान्मनोऽवच्छेदेनायमव्ययः पारस्यावारस्य च साक्षी निष्कृष्यते । अथ वागवच्छेदेन बीजं निधानं चाख्यायते । बीजं हि तत् परिणामि समवायिकारणमाख्यायते या प्रकृतिर्विकाररूपेण परिणमत इति परिणामवादेनाहुः । अथवा वागिति निधानं वक्तव्यम् । सर्वे विकारा अव्याकृतरूपेणास्मिन् बीजे निहिताः क्रमविकासेन प्रादुर्भवन्ति । न त्वसन्तः पश्चात् सत्तामादधते । इति विकासवादेनाहुः विकासवादेऽपि बीजत्वं नापह्नूयते इत्युभयं समञ्जसम् । अथ विज्ञानावच्छेदेनेदमव्ययं शरणं सुहृच्च वक्तव्यम् । शुभेपु चाशुभेपु सन्दिग्धेपु चासन्दिग्धेपु सर्वत्र व्यवहरतां विज्ञानं नः शरणम् । यदस्माकं विज्ञानमाह, तत्र वयमातिष्ठामहे विज्ञानं नः सुहृद्भूत्वा सर्वाभ्यो विपद्भ्यः संतारयति क्षेमं नः कल्याणं

हितमुपदिशति। अथ प्राणावच्छेदेनायं निवासः प्रभुश्च। भर्त्ता च वक्तव्यः। सर्वाणि भूतान्यस्मिन् प्राणे निवसन्ति। प्राणोऽयमेषु सर्वेषु भूतेषु प्रभवति। प्राणायत्तानि भूतानि न प्राणमतिवर्तन्ते। प्राण एवैतानि सर्वाणि भूतानि बिभर्त्ति प्राणो विधरणो भूतानां श्रूयते—"प्राण उवाच। अहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि। 'प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितमि'ति (प्रश्नोपनिषत्)॥ अथानन्दो गतिरमीषां सर्वेषाम्। गतिरिति गम्यं पदमाह। यदुद्दिश्य गतिः क्रियते यद्गत्वा न पुनर्गतिः क्रियते। तदिदं विश्रमस्थानमेव गत्युद्देश्यत्वाद् गतिः। आनन्दमेव तु गन्तुं सर्वाः प्रवृत्तयो दृश्यन्ते लोके। आनन्दं गत्वा कृतकृत्याः प्रवृत्तिं समापयन्ति। तस्मादानन्द एव गतिरमीषां सर्वेषाम्।

तस्यैतस्याव्ययस्य भगवद्गीतोपनिषदादिषु बहवो व्यपदेशाः स्मर्यन्ते।

गीता—अध्याय—श्लोक

१. पुराणपुरुषः २।२०,८।९, ११।३८, २।२०।१३. अहम् ८।४

२. यज्ञपुरुषः ४।२३।१४. अजः १०।३, ७।२५,१०।१३,२।२०।२।२१

३. पुरुषोत्तमः १०।१५, १५।१८,१५।१९।१५. अच्युतः ११।४२,

४. उत्तमः १५।१७। १६. भूतेशः १०।१५

५. अमृतः १४।२७। १७. भूतभावनः १०।१५,९।५

६. साक्षी १८. सच्चिदानन्दः

७. परमात्मा १३।३१, १५।१७। १९. अधियज्ञः ८।४

८. परः २०. सत्यस्य सत्यम्

९. आदिपुरुषः १०।२, १०।१२, ११।३८। २१. सत्यम्

१०. अनादिपुरुषः १०।३।, २२. अप्रेमयः ११।४

११. शाश्वतः १०।१२,१८।५६। १८।६२,२।२०। २३. महाजनः

१२. सनातनः ४।३१, ८।२०, ११।१८।२४. अव्ययः ७।२५,९।१३,

११।१८।१५।५, १५।७,१८।२०,१८।१६,

परमपुरुषः ८।८, ८।१०। २।१७, २।२१

दिव्यपुरुषः ८।८, ८।१०, १०।३०। लोकमहेश्वरः

जगन्निवासः ११।४५। भूतमहेश्वरः ९।११
नित्यः २।२०। ईश्वरः १५।१७
स्थाणुः अविनाशी, २।२१, २।१८
अचलः

[1]अजोऽच्युतो[2]ऽव्यय[3]: [4]साक्षी भूत[5]भृद्भूत[6]भावनः ।
[7]शाश्वतः सच्चिदानन्दः[8] [9]परमात्मा [10]सनातनः ॥

य आदि[11]पुरुषोऽनादिपुरुषो[12] [13]दिव्यपुरुषः ।
पुराणपुरुषो[14] यज्ञपुरुषः[15] पुरुषोत्तमः[16] ॥

सत्यस्य[17] सत्यं सत्यं[18] च परः[19] परमपुरुषः[20] ।
महाजनै[21]श्चाप्रमेयो[22] ऽधियज्ञो[23] ऽमृत[24] उत्तमः[25] ॥

जग[26]न्निवासो योऽचिन्त्यो[28] भूतमहेश्वरः[29] ।
ईश्वरः[30] स्थाणु[31]रचलो[32]ऽव्यक्तो[33] लोकमहेश्वरः[34] ॥

सर्वाधारो[35] निराधारो[36] निराकारो[37] निरञ्जनः[38] ।
[39]निरवद्यो निरारम्भो[40] निःसङ्गो[41] निष्कलो[42]ऽक्षयः[43] ॥

[44]नित्यशुद्धो नित्यबुद्धो[45] नित्यमुक्तो[46] निराश्रयः[47] ।
अविनाशी[48] शान्त[49] आत्मा[50] [51]सोऽहमित्यनुभावयेत् ॥

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स उच्यते ॥ (श्वेताश्वे) ॥

न तस्य कार्यं करणं न विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

॥ इत्यव्ययपरिष्कारस्तृतीयः खण्डः ॥

अथ गद्यमय अक्षरनिरुक्तिः

ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः

अथ विधरण[1]माकर्षणं[2] विक्षेप[3]सामित्येते त्रयः प्राणाः अविनाभूताः समस्ता व्यस्ताश्चाक्षरशब्देन व्यपदिश्यन्ते ।

विधरणे प्रतिष्ठाशब्दो वैदेशिकानाम् । विधरणं नाम वाक् विकाराणां दैवतानां भूतानां चान्योन्यस्मिन् प्राणे मनसि चात्यन्तं संश्लेषेण······। मनस्यावपने प्राणेन दाम्ना सर्वे वाग्विकारा बद्धाः स्थेमानमानीयन्ते । विधरणतारतम्येन स्वरूपवैषम्याद् भिन्नभिन्ना भावा उत्पन्ना उच्यन्ते । तेनैतस्य प्रतिष्ठा प्राणस्य धातृत्वं चानुभवन्ति स एष प्रतिष्ठा प्राणस्त्रेधा विवर्तते – '[1]उक्थं ब्रह्म[2] साम च । अतो हि सर्वे धर्मा उत्तिष्ठन्ति । उत्थितांश्च सर्वानेव' धर्मानेष विभर्ति । उत्थितैश्च सर्वै रेव धर्म्मैरेष समं भवति । तदेतत् त्रयं सदेकभयमात्मा । आत्मा चैकः सन्नेतत् त्रयम् । तस्य भूयसा ब्रह्मशब्देन व्यपदेशा भवन्ति । ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा । ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजमिति श्रुतेः । ब्रह्मणा हि विधृता वाचः प्रत्यर्थं विष्कम्भा भवन्ति । विष्कम्भरसो वस्तुनि ब्रह्मणो रूपम् । आयाम[1]:, विस्तार[2]:, उच्छ्राय[3]:, घन[4]ता इति चत्वारि विष्कम्भरूपाणि । विष्कम्भनाभिरतिष्ठा वा ब्रह्म ।

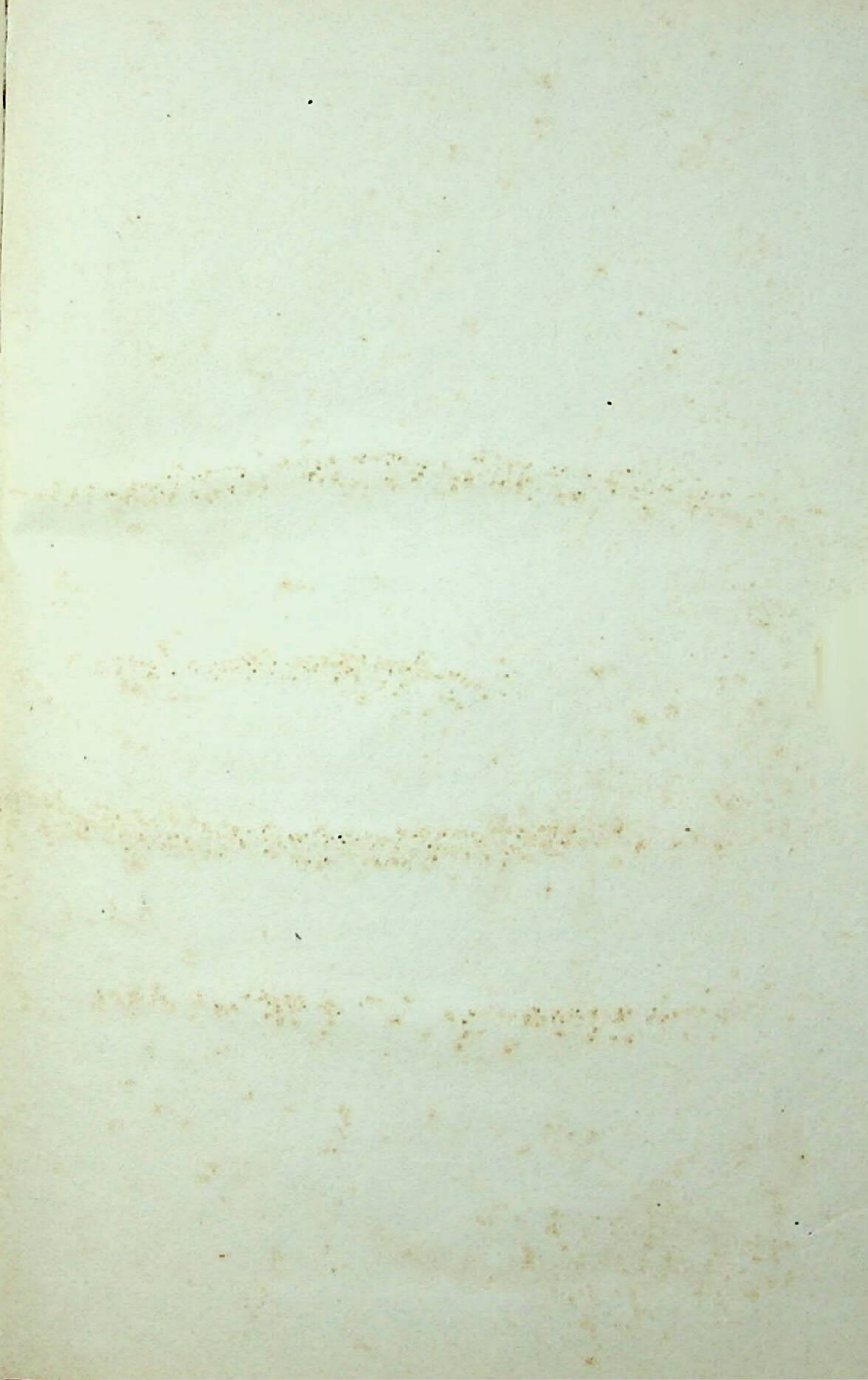
अथाकर्षणं प्राणः स्वस्मिन् ब्रह्मण्यसतां धर्म्माणां परतः समाहृत्य स्वब्रह्मभोग्यता संपादिता । आकर्षणे अशनायाः शब्दो वैदेशिकानाम् । विराजः पशोरन्तरिक्षाद्दिवो दिग्भ्यः प्रजापत्यन्तराच्चैषोऽनवरतमन्नमादत्ते । स एषोऽशनायां प्राणस्त्रेधा विवर्तते । उक्थ[1]मर्को[2]ऽशितिश्च । अशितिरन्तम् । अर्कोऽन्नादः । उक्थमावपनम् । कस्मिंश्चिदावपने सतोऽन्नादस्योदरे प्रतिष्ठमन्नमन्नादरूपेण परिणमते । तदेतत् त्रयं सदेकमयं यज्ञः । यज्ञश्चैकः सन्नेतत् त्रयम् । अन्नानां षड्विधत्वे सोमाग्निनामभ्यां स्त्रीपुंसाभ्यां विभक्तस्य ब्रह्मणो यः प्रातिरूप्येणाऽसृज्यत स विराट् । स यज्ञो देवानामन्नम् । तथा च श्रूयते – अथ देवा अन्योन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुः । तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ । यज्ञो हैषामास । यज्ञो हि देवानामन्नम् । स देवेभ्य आत्मानं प्रदाय, अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद् यज्ञम् । तस्मादाहुः

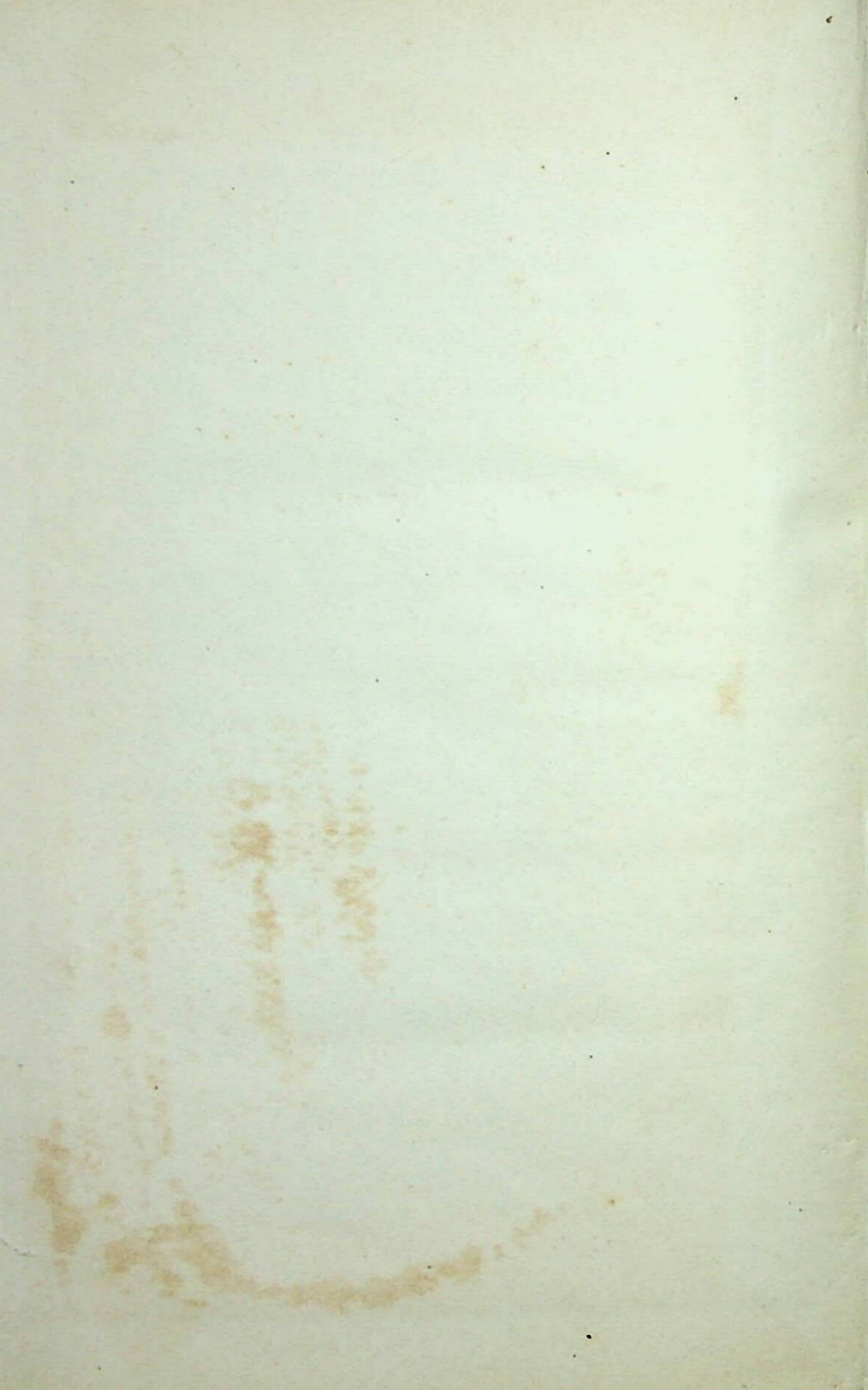
प्रजापतियज्ञ, इति आत्मनो ह्येवं प्रतिमासमसृजत—इति ११।१।१८॥ यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। यावती वाक् तावानयमन्नपिण्डविष्कम्भो दृश्यते। तस्मादयमन्नपिण्डो ब्रह्मणः प्रतिमा विराड् यज्ञः। तत्रायं ब्रह्माविष्णुमयेभ्यो-देवेभ्योऽन्नादेभ्य आत्मानमग्निषोमाभ्यां विभज्यमानं प्रदाय तत्राग्नौ सोमा-हुत्या यज्ञं निर्वाहयति। अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य सततः प्रजायते। ११।१।१। इतिश्रुतेः। यस्मिन्नुक्थे नामावपनेऽन्नादोऽग्निर्ब्रह्मणः पुंरूपमवतिष्ठते तत्राग्नौ ब्रह्मणि योऽर्कोऽन्नादः सोमं वाऽग्निं वाऽन्नं जडवद् यज्ञं निर्वाह्यति, सोऽक्षरो-ऽशनायामयो यज्ञनाम्ना विष्णुनाम्ना च भूयसा व्यपदिश्यते। यज्ञो वै विष्णुरितिश्रुतेः। पृथिव्यक्षरविष्णोरशनायामयं मूत्रं पार्थिवेष्वर्थेष्वासज्य-मानं तस्यार्थस्य भारो भवति। सूर्य्याक्षरविष्णोरशनायामयं सूत्रं तु तत्र तत्राधीयमानं तस्य तस्यार्थस्य लघुता भवति। तदनुग्रहतारतम्याद् वस्तुभारे तारतम्यं भवति। भाररसो वस्तुनि विष्णो रूपम्। भारनाभिरतिष्ठा वा विष्णुः।

अथ विक्षेपणप्राणः स्वस्मिन् ब्रह्मणि सतामशेषधर्माणामनवरतं विस्रं-समानानामुत्क्षेपणात् सर्वतो दिक्षु विराट्सदृशानां वस्तुरूपाणामनन्ता धाराः सम्पादयति। उत्क्षेपणे विस्रंसन् शब्दो वैदेशिकानाम्। स एष विक्षेपण-प्राणस्त्रेधा विवर्तते — उक्थं महाव्रतं पुरुषश्च। पूर्वविष्कम्भीयानां वाग्-बिन्दूनां मध्यमव्यतिरिक्ताः सर्वे बिन्दवो विष्कम्भसमानायां दिशि विस्रंसन्ते। अनुत्क्रान्तपार्श्वबिन्दुद्वयमेको बिन्दुभूत्वाऽनन्तरं विस्रस्तिसिद्धमूर्तेर्नभ्यो ब्रह्मा सम्पद्यते। बिन्दुह्रासाच्च पूर्वमूर्त्यपेक्षयाऽस्या मूर्त्तेर्विष्कम्भो ह्रसती-त्येवमुत्तरोत्तरह्रासाद् बिन्दुमात्रावसन्नायां मूर्तावेष विक्षेपणप्रस्तारः समा-प्नोति। तत्रैते पूर्वपूर्वसमादुत्थिता वाग् बिन्दव उत्तरोत्तरविष्कम्भ-भूता उक्थम्। मूर्तय एवैता बिन्दुमात्रावसानाः परितस्तापमानाः सहस्रनाम-मण्डलं वर्त्तुलं वृत्तं जनयन्ति। या चैतासां मूर्तिनामन्तरतरा तन्महदुक्थं नाम। अशीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायते इति हि श्रुतिर्भवति। अशीति-रशितिरन्नाम् यज्ञदीक्षितस्य यजमानस्यान्ते व्रतशब्दः। प्रतापतेर्विस्रस्त-स्याग्रं रसोऽगच्छदिति श्रुत्या विस्रंसनादिरिक्तं ब्रह्मणोऽङ्गं येनान्नेनापूर्य्यते तन्महाव्रतम्। यथोक्थं नाभेर्बहिर्धाऽपक्रमते। एवमिदं महाव्रतमनवरतमन्न-

स्तरमनुक्रममाणां ब्रह्मणो बुभुक्षां शमयति । तेनायं ब्रह्मा विस्रंसमानोऽपि न क्षीयते । तथा च श्रूयते — स प्रजाः सृष्ट्वा सर्वभाजिमित्वा व्यस्रंसत । तस्माद् विस्रंस्ताद् प्राणोमध्यत उदक्रामत् । तस्मिन्नेवमुत्क्रान्ते देवा अजहुः । तमग्निः समदधात् । तदेनं हिते उपादधात् । किं हितं किमुपहितमिति । प्राण एव हितं वागुपहितम् । प्राणे हीयं वागुपहितैव । इति वा अग्निः प्राण इन्द्र इति च । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिर्देवानसृजत । एतद्वै रूपं कृत्वा देवा अमृता अभवन्' इति च ॥ अत्र हितशब्देनोत्क्रान्तप्राणस्थानं विवक्षते तत्र वाचोऽग्नेरुपाधारात् प्रजापतिः सम्पद्यत । इति बोध्यम् । अथ यावत्यो मूर्तयः प्रतिदिशं धावन्त्यः क्रमन्ते ताः सर्वा वाङ्मय्योऽग्निः । सक्षरः पुरुषः तदन्तर्निहितोऽक्षरश्चाव्ययश्च संधत्ते । तदेतत् त्रयं सदेकमयमग्निः अग्निश्चैकः सन्नेतत् त्रयम् । सोऽग्निर्द्वेधा रूपं धत्ते । चित्योऽग्निर्मर्त्यः । चिते निधेयोऽग्निरमृतः । स सर्वे देवाः । तमिन्द्रमाचक्षते । एष एवेन्द्रः सहस्रं नामेदं रूपमण्डलं प्रत्यर्थं तन्वातो दूरादर्थं ग्राहयति । तथा च श्रूयते–इन्द्रो ह्येतानि रूपाणि करिक्रदचरत् , इति तै सं० इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप इण्यते, इति च । रूपं रूपं मघवा बोभवीति, इति तदित्थं ब्रह्मा विष्णुरिन्द्र इत्येते त्रयोऽक्षरा अव्ययाधिष्ठिताः सिद्धा भवन्ति ।

॥ इति गद्यमय-अक्षरनिरूपणम् ॥







ओझाजी के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ

१–ब्रह्मसिद्धान्त

२–रजोवाद

३–ब्रह्मसमन्वय

४–ब्रह्मचतुष्पदी

५–जगद्गुरुवैभव

६–दशवादरहस्य

७–महर्षिकुलवैभव

ओझाजीके शिष्य पं० मोतीलालजी शास्त्रीके प्रमुख ग्रन्थ

१–शतपथ ब्राह्मण-विज्ञान भाष्य

२–गीता-विज्ञान भाष्य

३–उपनिषद्-विज्ञान भाष्य

श्री वासुदेवशरण अग्रवालके कुछ वैदिक ग्रन्थ

१–सहस्राक्षरा वाक् (अँगरेज़ी)

२–वेदरश्मि (हिन्दी)

३–उरुज्योति (हिन्दी)

४–वेदविद्या (हिन्दी)

५–वैदिक लेक्चर्स (अँगरेज़ी)

६–स्पार्क्स फ्रोम दी वैदिक फायर (अँगरेज़ी)

७–मत्स्य पुराण–ए स्टडी (अँगरेज़ी)

८–वामन पुराण–ए स्टडी (अँगरेज़ी)